भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला संस्कृत ग्रन्थांक–३०

आचार्य विद्यानन्दिकृत

सत्यशासन-परीक्षा

[हिन्दी प्रस्तावना तथा परिशिष्ट सहित]

सम्पादक
गोकुलचन्द्र जैन
आचार्य (साहित्य-जैनदर्शन)
न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, एम. ए.

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
संशोधित मूल्य
Rs. 25/-
New Delhi
BHARATIYA JNANPITH

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर निर्वाण सं० २४९०
वि० सं० २०२०, सन् १९६४

प्रथम संस्करण
पाँच रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी-द्वारा
संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक
डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.
डॉ. आ० ने० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

●

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय : ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र : ३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० ● विक्रम सं० २००० ● १८ फरवरी सन् १९४४
सर्वाधिकार सुरक्षित

स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAIN GRANTHAMĀLĀ SANSKRIT GRANTH No. 30

SATYAŚĀSAN PARĪKSĀ

of

ĀCHĀRYA VIDYĀNANDI

with

HINDI INTRODUCTION & APPENDICES

EDITED BY

GOKUL CHANDRA JAIN

Acharya (Sahitya - Jain Philosophy)
Nyayatirtha, Kavyatirtha, M. A.

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
संशोधित मूल्य
Rs. 25/-
New Delhi
BHARATIYA JNANPITH

BHĀRATĪYA JÑĀNPĪTHA PUBLICATION

VIRA SAMVAT 2490
V. S. 2020, 1964 A. D.

First Edition
Rs. 5/-

BHĀRATĪYA JÑĀNPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAIN GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAṀŚA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

General Editors

Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

Bharatiya Jnanpith

Head office : 9 Alipore Park Place, Calcutta-27.
Publication office : Duragakund Road, Varanasi-5.
Sales office : 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6.

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000.18th Febr.1944

All Rights Reserved

पुण्यश्लोक डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यकी स्मृतिमें
उनके अनन्य सखा
पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य
तथा
पं० दलसुखभाई मालवणिया को

ग्रन्थमाला सम्पादकीय

बड़े हर्षकी बात है कि गत बीस-पचीस वर्षोंसे जैन न्यायविषयक अनेक प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं जिनसे न केवल जैन दर्शनका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है, किन्तु भारतीय चिन्तनकी गहराई, सूक्ष्मता और विशालताका भी अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

जैन न्यायकी परम्पराको विशेष व्यवस्था और दृढ़ता प्रदान करनेका श्रेय आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्र एवं न्यायावतार और सन्मतितर्कके कर्ता सिद्धसेनको है जिनका पूज्यपादने अपने व्याकरणमें सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। यद्यपि पूर्वोक्त दोनों आचार्योंके कालक्रम व पूर्वापरत्वके सम्बन्धमें मतभेद है, तथापि इसमें किसीको कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने समस्त जैन न्यायकी परम्पराको प्रभावित किया है।

समन्तभद्रकी कृतिको अकलंकने अपनी अष्टशती-द्वारा अलंकृत किया और विद्यानन्दिने अष्टसहस्री रचकर उनके न्यायविवेचनको चरम सीमापर पहुँचाया। प्रस्तुत सत्यशासन-परीक्षा भी इन्हीं विद्यानन्दिकी कृति है जो अब प्रथम बार प्रकाशमें लायी जा रही है। दुर्भाग्यतः यह रचना अधूरी है। स्वर्गीय डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य इसके शेष अंशकी खोजमें अपने अन्त समय तक लगे रहे। इसीलिए वे इसे अपने जीवनकालमें प्रकाशित भी न देख सके। प्रसन्नताकी बात है कि श्री गोकुलचन्द्र जैनने इसका सम्पादन अपने हाथमें लेकर इसे वर्तमान रूपमें प्रस्तुत किया। जिन प्रतियोंसे यह सम्पादन-कार्य हुआ है वे सभी अपूर्ण हैं और एक ही प्रतिकी प्रतिलिपियाँ मालूम पड़ती हैं, इस कारण इसमें कुछ त्रुटियाँ व कमियाँ रह जाना स्वाभाविक है पर आशा है अब प्रस्तुत व्यवस्थित रूपमें यह रचना आ जानेसे इसकी त्रुटियों आदिका शोधन भी क्रमशः सरलतापूर्वक किया जा सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थमें जो आलोचनात्मक सैद्धान्तिक विवेचन पाया जाता है उसका विद्वत्तापूर्ण सुन्दर परिचय डॉ० नथमल टाटिया, डायरेक्टर, प्राकृत-जैन शोधसंस्थान, वैशाली, ने अँगरेज़ीमें लिखकर इस प्रकाशनको बहुत उपयोगी बनाया है। इसलिए हम उनके विशेष आभारी हैं।

भारतीय ज्ञानपीठकी मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे जैन न्यायविषयक अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमेंसे कुछ प्रथम बार ही प्रकाशमें आये हैं। अब समय आ गया है कि उक्त समस्त रचनाओंका आलोडन करके भारतीय न्यायशास्त्रको जैन धर्मकी देनका यथोचित मूल्यांकन किया जाये। श्री शान्तिप्रसाद जैन तथा उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती रमारानी इस प्राचीन शास्त्रीय साहित्यके उद्धार और प्रकाशनमें जो आर्थिक उदारता दिखला रहे हैं उसके लिए वे साहित्यिक संसारके विशेष धन्यवादके पात्र हैं। ग्रन्थमालाके मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनका इस दिशामें प्रयास प्रशंसनीय है। इसी सुसंयोगके बलपर आशा की जाती है कि जैन साहित्यकी जो अपार निधि अभी भी उपेक्षित पड़ी है वह धीरे-धीरे प्रकाशमें आकर देशके सांस्कृतिक भण्डारको सुसमृद्ध बनायेगी।

हो० ला० जैन, जबलपुर
आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर
ग्रन्थमाला सम्पादक

सम्पादकीय

सत्यशासन-परीक्षा प्रस्तुत संस्करणमें सर्वप्रथम प्रकाशमें आ रही है। इसके प्रकाशनके साथ ही विद्यानन्दिका सम्पूर्ण प्राप्त साहित्य प्रकाशमें आ चुकता है। सम्भवतया यह विद्यानन्दिकी अन्तिम कृति है, जिसे वे पूरा नहीं कर सके। जो पाण्डुलिपियाँ वर्तमानमें प्राप्त हैं, वे सभी अपूर्ण हैं। आश्चर्य यही है कि विद्यानन्दिके अन्य ग्रन्थोंकी तुलनामें सत्यशासन-परीक्षाका प्रकाशन इतने विलम्बसे हुआ।

सत्यशासन-परीक्षाकी जानकारी सर्वप्रथम पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'जैन हितैषी' (भाग १४, अंक १०-११) में दी थी। उसके बाद स्व० पं० महेन्द्रकुमारजीने 'विद्यानन्दिकृत सत्यशासन-परीक्षा' शीर्षक-से एक विस्तृत निबन्ध 'अनेकान्त' (वर्ष ३, विवरण ११) में लिखा था। वे इसका सम्पादन करना चाहते थे, किन्तु अन्य कार्योंमें व्यस्त रहनेके कारण न कर सके और असमयमें ही उनका दुःखद अवसान हो गया।

पी-एच. डी. के लिए सत्यशासन-परीक्षाका सुसम्पादित संस्करण तैयार करनेके विचारसे मैंने इसे मई १९६० में हाथमें लिया था। कई कारणोंसे यह पी-एच. डी. का विषय तो न बन पाया, किन्तु मनमें इसके सम्पादनका संकल्प अवश्य बन गया और सम्पादनकी रूपरेखा मैंने डॉ० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुरको भेजकर सुझाव आमन्त्रित किये। उत्तरमें डॉ० उपाध्येने न केवल रूपरेखाको ही ठीक बताया बल्कि पाण्डुलिपि तैयार होनेपर उसे ज्ञानपीठसे प्रकाशित करनेका आश्वासन भी दिया।

मूडबिद्रीकी ताडपत्रीय कन्नड प्रतियाँ प्राप्त करने तथा उनके पाठान्तर लेने आदिके कारण सम्पादन-कार्यमें विलम्ब आते दिखा। इसी बीच संयोगसे अक्तूबर १९६१ में प्राच्य-विद्या सम्मेलन, श्रीनगरमें डॉ० उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैनसे मिलना हुआ। उनकी प्रेरणाके फलस्वरूप श्रीनगरसे लौटनेके बाद शीघ्र ही इस कार्यको पूरा किया और २८ दिसम्बर, १९६१को पूरी सम्पादित पाण्डुलिपि प्रस्तावना तथा परिशिष्टों सहित डॉ० उपाध्येको भेज दी।

संयोग ही कहना चाहिए कि सत्यशासन-परीक्षाको मुद्रित-प्रकाशित होते पूरे दो वर्ष लग गये। इस लम्बे अन्तरालमें जो नये महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आये, उनकी यहाँ चर्चा कर देना उपयुक्त होगा :

आचार्य विद्यानन्दिके समयका निर्णय करते हुए मैंने पं० दरबारीलालजी कोठियाके निष्कर्षोंके आधार-पर विद्यानन्दिको उद्योतकरके टीकाकार वाचस्पति मिश्रसे पहले बताया है और कारण दिया है कि विद्या-नन्दिने उद्योतकरका तो खण्डन किया है पर वाचस्पति मिश्रका नहीं। वाचस्पति मिश्रका समय ८४१ ई० माना जाता है। फलतः विद्यानन्दि इसके पूर्व हुए।

सत्यशासन-परीक्षाके ही साक्ष्यमें और जाँचने-देखनेपर ज्ञात होता है कि विद्यानन्दिने उद्योतकरके साथ-साथ वाचस्पति मिश्रका भी खण्डन किया है। सत्यशासन-परीक्षाके प्रारम्भमें ही पुरुषाद्वैतशासन-परीक्षाके पूर्वपक्षमें निम्नलिखित पद्य आया है,

अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो,
विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽबवनयः।
यतश्चाभूद् विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम् ॥

यह पद्य वाचस्पतिकी भामती टीकाका मंगल पद्य है। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्दि वाचस्पति मिश्रके बाद हुए। इसी सन्दर्भमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके इस उल्लेखको भी जाँचना-देखना चाहिए, "**तदनेन न्यायवार्तिक-टीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति।**" (तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०६) यहाँ न्यायवार्तिकटीकाकारसे विद्यानन्दिको वाचस्पति मिश्रका ही उल्लेख अभीष्ट है। इस प्रकार विद्यानन्दि वाचस्पति मिश्रसे तो निश्चित ही बादमें हुए सिद्ध होते हैं।

सत्यशासन-परीक्षाका प्रस्तुत संस्करण तैयार करनेमें पुण्यश्लोक पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी स्मृति पदे-पदे प्रेरित और प्रबुद्ध करती रही। उनके जीते जी कभी मैं दर्शनशास्त्रपर अपनी लेखनी चलानेके लिए राजी न हुआ। जब भी वे किसी दार्शनिक ग्रन्थपर काम करनेको कहते तो मैं उत्तर देता, 'दर्शनशास्त्र-पर काम करनेवाले आप लोग बहुत हैं, मैं तो साहित्यपर काम करूँगा।' और उनके जानेके बाद पहले-पहल मेरी लेखनी दर्शनपर ही चली।

जीवनके अन्तिम दिनोंमें महेन्द्रकुमारजी हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयका सम्पादन कर रहे थे। दस वर्ष पहले प्रारम्भ किया काम हम दोनोंने मिलकर कुछ ही महीनोंमें पूरा कर लिया था। उसी प्रसंगमें मैं उनके निकटतम सम्पर्कमें आया। और उस सम्पर्कके प्रतिफल मुझे यह दृष्टि प्राप्त हुई कि सत्यशासन-परीक्षाके सम्पादनका यह कार्य सम्पन्न कर सका।

सत्यशासन-परीक्षाके सम्पादनमें अनेक विद्वानों एवं मित्रोंका सहयोग तथा शुभकामनाएँ प्राप्त रही हैं। डॉ० आ. ने. उपाध्ये और डॉ० हीरालाल जैनकी निरन्तर प्रेरणा न रही होती तो कदाचित् इतनी जल्दी सम्पादन-कार्य पूरा न हो पाता। पं० दलसुखभाई मालवणिया तथा पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यमें तो मैं पं० महेन्द्रकुमारजीके साथ खोया स्नेह, प्रेरणा और साहाय्य खोजता-पाता रहा। श्री धर्मपाल शेट्टी मूडबिद्रीने कन्नड लिपिकी दोनों प्रतियाँ उपलब्ध करानेमें तथा पं० देवकुमार जैन मूडबिद्रीने उनके पाठान्तर लेनेमें सहायता की। पं० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीके प्रयत्नसे जैन सिद्धान्त भवन, आराकी प्रति प्राप्त हुई। इन सबके प्रति कृतज्ञ हूँ। सम्पादनकालमें श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारसके पुस्तकालयका मैंने पूरा-पूरा उपयोग किया है। अतएव उसके अधिकारियोंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। पं० महेन्द्रकुमारजीके ज्येष्ठ पुत्र प्रिय पद्मकुमार जैनने पूर्व स्नेहवश पण्डितजीकी प्रतिलिपिसे सत्यशासन-परीक्षाकी प्रतिलिपि कर लेने दी, प्रिय भागचन्द्र जैन एम. ए., साहित्याचार्यने अपना अमूल्य समय देकर सहयोग ही नहीं किया, प्रत्युत शीघ्र कार्य पूरा करनेमें हाथ भी बटाया। प्रिय लालचन्द्र जैनने प्रतिलिपि करनेमें तथा अन्य जिन मित्रोंने जाने-अनजाने प्रेरणा दी, उन सबके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पं० हुकमचन्दजी न्यायतीर्थ तथा श्रद्धेया बहन काशीदेवीने मुझे इस योग्य बनानेमें सदासे सब कुछ किया, उनका किन शब्दोंमें आभार मानूँ।

वैशाली प्राकृत जैन विद्यापीठके वर्तमान डायरेक्टर डॉ० नथमल टाटियाने अपने व्यस्त समयमें भी सत्यशासन-परीक्षाका अंगरेजीमें विस्तृत परिचय लिखनेका अनुग्रह किया, इसके लिए हृदयसे कृतज्ञ हूँ। भारतीय ज्ञानपीठके मान्य अधिकारियोंका आभार मानना कैसे भूल सकता हूँ जिन्होंने पुस्तकको सुन्दर रूपमें प्रकाशित कर दिया।

मेरी इच्छा थी कि प्रस्तावनामें सत्यशासन-परीक्षाके त्रुटित अंशोंपर भी विद्यानन्दिके अन्य ग्रन्थोंके साक्ष्यमें प्रकाश डालूँ तथा विद्यानन्दिका समग्र अध्ययन प्रस्तुत करूँ, किन्तु कई कारणोंसे वह न हो सका। कदाचित् यह पी-एच. डी. का विषय बनता तो कुछ और अधिक हो पाता।

पुस्तकके रूपमें यह मेरी पहली कृति है, इसलिए सुझाव और शिकायत दोनोंका ही स्वागत करूँगा।

काशी
दिसम्बर १९६३

A COMPENDIUM OF VIDYĀNANDA'S SATYAŚĀSANA-PARĪKṢĀ

Dr. NATHMAL TATIA

1. Introductry

The Satyaśāsanaparīkṣā of Vidyānanda, critically edited for the first time by Shri Gokulchandra Jain, M. A., is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian philosophy. It is written by a first-rate Jaina thinker, Ācārya Vidyānanda, who is famous for his Aṣṭasahasrī and a number of other works on Jaina philosophy and logic. The critical method of Jaina philosophy adopted by Svāmī Samantabhadra in his Āptamīmāṃsā culminated in the Aṣṭasahasrī of Vidyānanda through the Aṣṭaśatī of Akalaṅka. Samantabhadra's terse formulation of philosophical issues and clean exposure of the absurdities in the opponent's position gave rise to the proverb 'anu Samanta bhadraṃ tārkikāḥ' (that is, all logical thinkers are inferior to Samantabhadra).[1] His works – composed in verse – were read and recited by all classes of people, young and old, and that was responsible for the proverb 'ā kumārebhyo yaśaḥ Samantabhadrasya' (that is, the fame of Samantabhadra extends to include the young folk as well).[2] The attacks of Samantabhadra on Buddhist philosophy were taken note of by Dharmakīrti's Commentators[3] who quoted his views for refutation. Akalaṅka, in his Aṣṭaśatī, explains the philosophy of Samantabhadra with a special reference to the Buddhist positions, and Vidyānanda, in his Aṣṭasahasrī, includes also the opponents who flourished after Akalaṅka up to the time of Vācaspati Miśra whom he quotes and refutes in his Tattvārthaślokavārttika[4] and the Satyaśāsanaparīkṣā,[5] the work under review. Akalaṅka's exposition is terse and brief and does not give the impression of being away from the original text. Vidyānanda, however, introduces many later developments and clarifies the Jaina positions in the light of these new issues.

Siddhasena Divākara, Pūjyapāda Devanandi and Svāmī Samantabhadra*

1 *Jainendra-Mahāvṛtti*, I. 4. 15.

2 *Ibid*, I. 4. 20.

3 Arcata in his *Hetubindutīkā*, pp. 98–107, criticizes the contents of the *Āptamīmāṃsā*, verses 71 and 72. Prajñākaragupta in his *Pramāṇavārtikabhāṣya*, p. 224, appears to refer to the *Āptamīmāṃsā* verses 10 and 11. Karṇakagomin in his *Pramāṇavārtikatīkā*, p. 109, quotes the *Āptamimāṃsā* verse 11 a–b. He also appears to refer to verse 10 a–b on p. 31.

4 Page 206 where we find the expression *Nyāyavārttika-tīkākāra*.

5 Page 2 where the introductory prayer verse of the *Bhāmatī* is quoted.

* This chronological ordor is controversial as mentioned in our General Editorial, H. L. J, & A. N. U.

are the three great exponents of Jaina philosophy which was introduced to the Sanskrit world by Vācaka Umāsvāti. Siddhasena Divākara discussed logical problems in his Nyāyāvatāra and Pūjyapāda Devanandi formulated definitions of Āgamic concepts in his Sarvārthasiddhi, which exerted immense influence on the later developments of Jaina thought. Svāmī Samantabhadra summed up the Jaina positions in his pregnant verses, sometimes giving them a new meaning. Thus Siddhasena Divākara's definition of 'naya' contained in the following verses–

anekāntātmakaṃ vastu gocaraḥ sarvasaṃvidām ;
ekadeśaviśiṣṭo'rtho nayasya viṣayo mataḥ.
nayānāmekaniṣṭhānāṃ pravṛtteḥ śrutavartmani ;
sampūrṇārthaviniścāyi syādvādaśrutamucyate.[1]

and Pūjyapāda Devanandi's characterization of it as "vastuny anekāntātmany avirodhena hetvarpaṇāt sādhyaviśeṣasya yāthātmyaprāpaṇa-pravaṇa-prayogo nayaḥ"[2] are summed up by Samantabhadra, with his characteristic note of originality, in the verse which runs as follows–

sadharmaṇaiva sādhyasya sādharmyād avirodhataḥ ;
syādvāda-pravibhaktārtha-viśeṣa-vyañjako nayaḥ.[3]

This is obviously the logical consummation of the positions held by Siddhasena Divākara and Pūjyapāda Devanandi. Samantabhadra's following statement of the respective spheres of application of scriptural evidence and inference–

vaktaryanāpte yaddhetoḥ sādhyaṃ taddhetusādhitam ;
āpte vaktari tadvākyāt sādhyamāgamasādhitam.[4]

is a definite advancement on the following verse of Siddhasena Divākara on the same subject–

jo heuvāyapakkhammi heuo āgame ya āgamio ;
so sasamaya-paṇṇavao siddhantavirāhao anno.[5]

Both these passages are cited by Vidyānanda in his Tattvārthaślokavārttika[6] in connection with the Jaina theory of the validity of the initial enunciation of the subject-matter of a treatise, jointly based on scripture and inference.

With Akalaṅka, Jaina philosophy reaches its period of adolescence and

---

1 *Nyāyāvatāra*, verses 29–30.
2 *Sarvārthasiddhi* on *TS*, 1. 33.
3 *ĀM*, verse 106.
4 *ĀM*, 78.
5 *Sanmatiprakaraṇa*, III, 45.
6 Page 3.

maturity that characterized Buddhist philosophy of the age of Dharmakīrti. Next to the Naiyāyikas, the Buddhists were the pioneers of logical thought, and the Jaina logicians closely followed the Buddhists. Akalaṅka finds the best exponent of his philosophy in Vidyānanda who may be considered the stabilizer of Jaina thought which reached its pinnacle in Akalaṅka.

It is not the occasion to make a comprehensive study of the contribution of Vidyānanda to the evolution of Jaina thought, based on his different works. Nor do we propose to make a critical estimate of the Satyaśāsanaparīkṣā, the work under study. We shall only enucliate select issues raised in the treatise, giving only a summary of a few others.

It is not impossible to arrive at a true doctrine. Between two contradictorily opposed doctrines, one must be true. The Law of Excluded Middle means that the negation of any proposition is an absolute alternative to it, that is, not only the proposition and its negative cannot both be true, but one or other must be true.[1] What is not contradicted by perception or logic (dṛṣṭeṣṭāviruddha) is true. The various doctrines taken up for refutation are judged by this criterion of truth and found not to satisfy it.

2 The Vedāntic Monism

The Monistic Vedānta is taken up first. This school makes avidyā (nescience) the prius of the subjective and the objective order of existence. Avidyā, in association with the eternal Brahman is the material cause of the world. It is of course not real like the Brahman, because it is subject to annihilation. Only that is real which possesses existence as an intrinsic and inalienable character. Change is not predicable of the ultimate reality. It appears in and upon the Brahman owing to the latter's association with avidyā. As regards the nature of Brahman, it is limitless existence, consciousness, and bliss with no difference, intrinsic or extrinsic, in its being and is a unity— perfect, solid and simple. Plurality is false. It appears so long as there is avidyā and it must disappear on the destruction of thel atter. And this destruction of avidyā is spiritual liberation (mokṣa).

In reply, the Jaina philosopher asserts that plurality is not capable of being repudiated as false appearance. Absolute unity and absolute plurality are both contradicted by experience. Difference is as clearly given to experience as

---

1 *Cf.* parasparaṃ vipratiṣiddhayor dvayorapi vidhivat pratiṣedhasyāpy asambhavena anyatarasya niyamena vidher upapatteḥ kasyacit satyasyāvaśyam abhyupagantavyatvāt.—*SŚP*, p. 1.

identity. Monism is contradicted by the experience of plurality.[1] The Vedāntist appeals to dream experience in support of his position that the unitary self-identical Brahman appears as the plurality of phenomena. It is argued that in dream a plurality of facts is experienced though it is one consciousness that only exists and is felt. The Jaina does not agree with this interpretation of dream experience. Even in dream, as in wakeful experience, the consciousness of action is different from that of the agent, because it is admitted even by the Vedāntist that dream contents are produced by different memory-impressions.[2] The Vedāntist's appeal to illusory experience in which one single entity appears as many is also rejected by the Jaina philosopher. An illusion is not a normal experience, because it is contradicted by a subsequent valid cognition. But the cognition of plurality is a case of normal experience. There is no contradiction in the fact that the potter fashions a jar with his staff and eats his meal with his hand. There is no reason why the normal experience of plurality should be asserted as erroneous. The Vedāntist may here assert that the normal experience also is liable to contradiction on the attainment of final enlightenment. But that is also not possible. We do not know of any proof for the existence of Brahman as different from plurality which is given to our normal experience. Such proof itself, by the very fact that it proves Brahman as different from the object of normal experience, would prove the object along with the Brahman, much in the same way as the knowledge of shell as shell, while contradicting the erroneous cognition of shell as silver, proves the existence of the shell and the silver as two different entities.[3] The Vedāntist in despair refers to indeterminate (nirvikalpaka) cognition, which cognizes bare existence, as the proof of the existence of Brahman which is unity, pure and simple. But the Jaina philosopher refuses to believe in the possibility of such undifferentiated experience. What we immediately perceive on opening our eyes is specific existence determined by space, time, otherness and the like. We never perceive what is not determined by space and what is not other than the knowing self.[4]

Our perceptual experience thus is found incapable of proving the Absolute Brahman. On the contrary, it proves difference to be as integral to reality as identity.

---

1 bhedāvabhāsinā ca pratyakṣeṇādvaitasya viruddhatvāt--*SŚP*, p. 3.

2 tatrānyad eva hi kriyāviśeṣa-saṃvedanaṃ svavāsanottham, anyad eva ca kārakaviśeṣa-saṃvedanaṃ pratyakṣam, na punarekam eva, taddhetu-vāsanābhedābhāva-prasaṃgāt.—*SŚP*, p. 3.

3 ...viṣayānyathātvasādhakasyaiva bādhakatvopapatteḥ, śuktau rajatajñānasya śuktikājñānavat.—*SŚP*, p. 3.

4 apratiniyatadeśasya draṣṭur ananyasyādarśanāt.—*SŚP*, p. 4.

The Vedāntist now seeks the aid of inference to prove the Absolute as pure consciousness. The unreality of an independent objective world is deduced from an analysis of even an ordinary empirical judgment. Take for instance the trite experience 'I see the pen'. What is the status of the pen ? The pen is felt as an object no doubt. But it is felt as the content of, that is, coincident with its cognition. Now, by the application of the principle 'whatever is coincident with cognition is inside, i. e., identical with it' it follows that the pen, being coincident with its cognition, is inside, i. e., identical with the cognition. For instance, the character of cognitionhood, being coincident with the cognition, is identical with the latter.[1] All things can similarly be shown as coincident with cognition, and as such identical with it. There is thus nothing outside consciousness which alone exists.

But the Jaina considers the argument suicidal. The Vedāntist infers 'identity' from 'coincidence'. But how can the inference be valid unless both 'identity', the probandum, and 'coincidence', the probans, are admitted as two distinct facts existing in their own right ?

Nor can the Vedāntist postulate absolute identity between the probans and the probandum. He seeks to deduce the identity of the content and cognition from the felt coincidence of the two. The fact that they are felt as two should have made the Vedāntist pause before he drew the conclusion of their absolute identity. If experience be the determinant of the nature of things, it cannot be gainsaid that not only the probans and the probandum are felt as identical-cum-different, but also the conclusion, viz the integration of the content, should be regarded as a case of identity-in-difference. Even in the Buddhist philosopher's inference of 'momentariness' of a word (śabda) and the like from their 'existence', the probans (viz existence) and the probandum (viz momentariness) are not felt as absolutely identical.[2]

The fact that one goes with the other necessarily is proof that they are not absolutely distinct and different. But the other fact that one is the probans and the other is the probandum, and as such is felt as distinct from the other should prove that the two are not absolutely identical. The inference of absolute identity of content and consciousness by the Vedāntist on the ground of their invariable coincidence must therefore be rejected as *ultra vires*.

The Jaina however agrees with the Vedāntist when he asserts that the

---

1 yat pratibhāsa-samānādhikaraṇaṃ tat pratibhāsāntaḥ-praviṣṭaṃ yathā pratibhāsa-svarūpam.--*SŚP*, 4.

2 śabdādau sattvānityatvayor api kathañcit tādātmyāt sarvathā tādātmyāsiddheḥ, tatsiddhau sādhyasādhanabhāva-virodhāt.—*SŚP*. p. 5.

object cannot remain absolutely distinct and different from consciousness whe n it is cognized. The verbal proposition expressing the knowledge situation is of the form 'The pen is known'. The predicate 'knownness' proves that the pen is not absolutely different from and so unconnected with knowledge. But the negation of absolute difference does not imply that the pen is absolutely made identical with knowledge. The proposition is entirely on a par with such factual propositions as 'The cloth is white'. In both the propositions, the relation of subject and predicate is one of substance and attribute. The relation cannot be absolute identity as in that case it would be reducible to one of the terms, either the subject or the predicate.[1] The relation is *sui generis* which may be called identity-in-difference for want of a better and more expressive name.

But the Vedāntist may ask : What about the judgment 'The cognition *per se* shines' (pratibhāsa-svarūpaṃ pratibhāsate), that is, 'The cognition *per se* is known by cognition' ? Here the content of the cognition is its own self, and so the position that the relation of cognition and content is one of identity-cum-difference cannot hold in the present case. But the Jaina philosopher avers that the content is not the act of cognition as such but its specific character. Cognition has both specific and generic attributes as constitutive of its nature. For instance, cognition is existent and this shows that it has the attribute of existence in common with all other entities. The attribute of cognition-hood is an uncommon characteristic. In the said judgment the content is the specific character of cognition, and the specific character is not absolutely identical with the cognition. There can be no judgment or proposition possible if the terms are absolutely identical or absolutely different, *e. g.*, 'gold is gold' and 'Himālaya is the Vindhya' are not logical propositions.[2] As regards the basic argument of the Vedāntist employed to prove the identity of cognition and content, it can be upset by the following argument : 'Whatever is coincident with cognition is somehow different from the cognition concerned, *e. g.*, the nature of cognition itself. All the contents, internal and external, such as pleasure and the chair are coincident with cognitions. Therefore, they must be somehow different from the cognitions concerned.'[3]

---

1 na hi śuklaḥ paṭa iṭyādāvapi sarvathā guṇadravyayos tādātmye sāmānādhikaraṇyam asti.—*SŚP*, p. 5.

2 'pratibhāsa-svarūpaṃ pratibhāsate' ityatrāpi na pratibhāsa-tatsvarūpayor lakṣya-lakṣaṇabhūtayoḥ sarvathā tādātmyam asti, pratibhāsasya sādhāraṇāsādhāraṇa-dharmādhikaraṇasya svasvarūpād asādhāraṇadharmāt kathañcid bhedaprasiddheḥ, anyathā tatsāmānādhikaraṇyāyogāt 'suvarṇaṃ suvarṇam' iti yathā, sahya-vindhyavad vā.—*SŚP*, p. 5.

3 *Cf.* yat pratibhāsa-samānādhikaraṇaṃ tat pratibhāsāt kathañcid arthāntaram, yathā pratibhāsa-svarūpam; pratibhāsasamānādhikaraṇaṃ ca sukha-nīlādi sarvam iti sādhyaviparīta-sādhanād hetor nādvaitasiddhiḥ.—*SŚP*, p. 5.

With the collapse of inference as the proof of monism, the Vedāntist in the last resort falls back upon revelation (Āgama) in support of his position. But the question arises whether revelation is ontologically different from the Absolute or not. If it be absolutely different from the Absolute, this will prove the dualism of revelation and Brahman at any rate.[1] If on the contrary it be absolutely identical with the Absolute Brahman which it seeks to establish, then the revelation will be as much an unproved fact as the monistic Absolute which is yet to be established. Certainly the means of proof and the object of proof cannot be absolutely identical as in that case the two will be on the same level so far as they are not established facts.[2]

Moreover, the meaning of the proposition 'All that exists is the Absolute' (sarvaṃ vai khalvidaṃ brahma) is not unqualified monism. In it the subject is 'all existents' which are revealed to us in knowledge and thus a known factor. The predicate is unknown. In all judgments the subject is a known fact and the predicate must be unknown. If the predicate were equally known with the subject, it would not be judgment or a proposition.[3] So the very form of a proposition implies that the subject and the predicate cannot be identical. The Vedāntist therefore cannot establish monism even by appeal to authoritative revelation. It may be contended that the meaning of the predicate is self-identity which is realized by a subject in his own self and this self-identity is asserted of all that appears including self and not-self. The logical implication of the proposition therefore is the negation of the appearance of plurality as real. Thus interpreted the proposition is neither tautologous nor liable to signify dualism. The Jaina would observe that even if the interpretation be accepted as true, the implication of dualism is inescapable inasmuch as the duality of revelation and the world appearance respectively as the negator and the negated remains uncontradicted.[4] If on the other hand revelation were to be regarded as the essence of the Absolute, that also would not prove their identity as essence and possessor of essence must be numerically different.

---

1 *Cf.* athāgmas tatsādhako'styeva 'sarvaṃ vai khalvidaṃ brahma' ityādyāgamasya parabrahma-sādhakasya ṣadbhāvād iti cet, tadapi svavadhāya kṛtyotthāpanameva, advaita-tadāgamayor dvaita-prasaṅgāt.—*SŚP*. p. 5.

2 *Cf.* yadi punar āgamopyadvayapuruṣa-svabhāva eva, na tato vyatiriktaḥ... tadā brahmavat tadāgamasyāpyasiddhatvaṃ syat.—*SŚP*, p. 5.

3 sarvathā prasiddhasya vidhānāyogāt.—*SŚP*, p. 5.

4 *Cf.* kvacid ātmavyaktau prasiddhasyaikātmya-rūpasya brahmatvasya sarvātmasvanātmābhimateṣu ca vidhānād dvaita-prapañcāropavyavacchedepi tadāgamād vyavacchedya-vyavacchedaka-sadbhāvasiddheḥ katham advaitasiddhiḥ.—*SŚP*, p. 6.

The Vedāntist cannot also regard self-intuition as proof of the Absolute, because the proof must be different from the object of proof. Nor can the Absolute be taken as self-proved, for why not then plurality or voidity or the doctrine of universal illusion be accepted as the ultimate truth.[1]

It has been argued by the Vedāntist that our perceptual experiences are false because they are cognizant of difference, just as dream experience is. But this inference is vitiated by self-contradiction because the factors of inference such as the probans and the example must in any event be regarded as true. If they are true, their difference also is true. And if all these conditions of inference are false and thus cognition of difference be declared to be false, the inference will not prove the thesis, because no true conclusion can follow from false premises.[2] The Vedāntist may contend that the conditions of inference are accepted as true by the opponent and hence they are valid so far as the opponent's refutation is concerned. But that would mean the recognition of the duality of acceptance, viz, one's own acceptance and the acceptance of the opponent (svaparābhyupagama-bheda-pratibhāsa). And again if this duality also is assigned to another belief of the opponent, a second duality of acceptance would be required; and so on *ad infinitum*. And the result would be the establishment of duality.[3] Nor can the Vedāntist assert the self-evident pure consciousness as the contradictor of our normal cognition of plurality, because that would be a case of self-contradiction, being tantamount to the acceptance of the duality of the contradicted and the contradictor. Moreover the Vadāntist, being a monist, can accept the contradicted-contradictory relation only on the authority of his opponent. For him the relation is as unreal as anything other than the Absolute. It is thus found that there is no proof against duality which is cognized in normal experience. And this duality, being opposed to monism, refutes the latter.

Furthermore, monism can be established only by the negation of dualism.

---

1 svataḥsiddhaṃ brahmetyabhyupagame dvaitam api svataḥ sakalasādhanābhāvepi kiṃ na sidhyet, tattvopaplavamātraṃ vā nairātmyaṃ vā.—*SŚP*, p. 6.

2 syād ākūtam—vivādāpannaṃ pratyakṣādi mithyaiva, bhedapratibhāsatvāt svapnapratyakṣādivad iti; tad asat, prakṛtānumāne pakṣa-hetu-dṛṣṭānta-bheda-pratibhāsasyāmithyātve tenaiva hetor vyabhicārāt, tanmithyātve tasmād anumānāt sādhyāprasiddheḥ.—*SŚP*, p. 6.

3 parābhyupagamāt pakṣādi-bheda-pratibhāsasyāmithyātvepi na doṣa iti cet; na, svaparābhyupagama-bheda-pratibhāsena vyabhicārāt. tasyāpi parābhyupagamāntarād amithyātvād doṣābhāve sa eva tadbhedapratibhāsena vyabhicāra iti na kvacid vyavatiṣṭhet.—*SŚP*, p. 6,

In fact, Śaṅkara, the founder of the school of monistic Vedānta, has called his philosophy the doctrine of non-dualism. The expression 'non-dualism' can convey an intelligible meaning only if dualism be understood. Now 'dualism' is a whole (akhaṇḍa) expression and stands for a whole concept. It can be asserted as a universal proposition that the negation of a whole concept presupposes the reality of the concept in some other context.[1] Of course, there are such expressions as 'a square-circle' which do not stand for anything real, and its negation by such a negative expression as 'a non-square-circle' cannot be thought to presuppose the reality of the negatum. But this does not invalidate the universal proposition: 'The negatum is always real'. The rule holds only in the case of whole words and whole concepts. A square-circle is only an attempt at combination of square and circle, and it becomes a fiction because the two concepts are mutually repellent. It is for this reason that the rule is propounded to hold good of whole concepts *quâ* negata. Now monism *quâ* negation of dualism is possible only if dualism be a false appearance. But dualism being a whole concept, its negation will necessarily presuppose the reality of the negatum (*sc.* dualism) in some context or other.

The Vedāntist however is not convinced by such linguistic arguments. Even if dualism is regarded as a concept, its negation cannot be made the ground of its ontological reality. The negation of dualism does not in reality belong to the Absolute. The whole logical apparatus which is the creation of the professional logician is possessed of a provisional value. It is valid until the ultimate truth is realized. But what is the necessity of negation of dualism and what again is the reason for the adoption of the logical apparatus for the establishment of monistic position by the Vedāntist? The Vedāntist answers that the whole order of plurality is an unreal show which has deceived the dualist and the pluralist into the belief of its ultimate reality. When the Vedāntist tries to convince the dualist of his error, he has to adopt the logical apparatus invented by the logicians of the realistic persuasion. The distinction of self and not-self is necessitated by avidyā and is not to be mistaken as possessed of ultimate validity. So the charge of self-contradiction urged against the Vedāntist is the outcome of misunderstanding.

But what is the nature of avidyā or nescience? Let us consider the nature and relation of nescience as expounded by Sureśvara in the Bṛahadāraṇyka-vārttika.[2] It is possible to conceive that the nescience, if it existed at all,

---

1 *Cf.* advaitaṃ na vinā dvaitād ahetur iva hetunā;
saṃjñinaḥ pratiṣedho na pratiṣedhyād ṛte kvacit.—*ĀM*, 27, quoted in *SŚP*, p. 7.

2 *Saṃbandhavārttika*, 175–181, quoted in *SŚP*, p. 8.

can exist as the content of the Absolute or of the individual or as an independent entity. Now the first alternative is not conceivable. The conception of nescience in the Absolute which is of the nature of cognition and *ex hypothesi* omniscient involves self-contradiction. Nor can it be supposed to subsist in the individual, because the individual is not different from the Absolute and as such is free from all taint of nescience. How can nescience exist in the individual self which also is of the nature of pure cognition ? Nor is the third alternative a tenable hypothesis, because nescience admitted as an independent entity, like the Absolute, cannot be supposed to be annihilated by knowledge and so knowledge of the identity of the self and the Absolute, which is prescribed to be the condition of salvation, being the eliminator of nescience, will have no purpose to serve. Knowledge of identity is believed to lead to the perfect emancipation of the self, because it is assumed to be destructive of nescience which induced bondage. But if nescience be an independent entity like the Absolute and be coeval with the Absolute from beginningless time, it will be as eternal as the Absolute Self. And the bondage also will be an eternal fact. Sureśvara answers that the nature of nescience cannot be determined by an organ of knowledge. Nescience is not capable of being determined by logic, yet it cannot be denied that it exists. The individual feels that he is ignorant of many things. He is as certain of his ignorance as he is of his own existence. The individual is directly aware that he is a conscious being. So consciousness and existence are inalienable characteristics of the individual self. From the authority of revelation as well as the evidence of logic, the self is known to be identical with the Absolute Brahman. And we have seen that nescience is not possible in the Absolute and the individual alike. Sureśvara maintains that this is not the correct approach for determining the relation of nescience. To deny the existence of nescience would be contradiction of a felt fact. So, however irrational and illogical the concept of nescience may appear to be, its actual existence has got to be admitted by all. It is true that the conception of nescience as an independent entity is an absurd hypothesis. We find it from our study of the Upaniṣads that nescience is totally destroyed by knowledge of the reality. This is also the finding of incontestable experience. Our ordinary errors such as the perception of shell for the silver are found to be annihilated when followed by correct knowledge of the reality. This would be impossible and also unaccountable if nescience were eternal verity. It must be admitted that there is no *raison d'etre* for error. It is possible only when the conditions of knowledge are given a false twist by something superadded to them. It is absolutely unintelligible why should there be a deviation from the normal standard. Certainly this deviation cannot be the normal law as this would make

the emergence of correct knowledge and cancellation of the false knowledge preceding it an impossibility. What holds good of nescience operating in the individual must be true of it in its cosmic aspects also. So nescience cannot be eternal verity like the Absolute. Nor can it be an independent entity as shown above. It is felt by us all that we are beset by limitations on all sides and we are not satisfied with our present condition. We always try to transcend it as an undesirable obsession. So nescience cannot have an independent existence outside consciousness. The Vedāntist believes that consciousness, absolute and undifferenced, is the only reality and is the very stuff and essence of all that exists and appears. The appearance of plurality according to the Vedāntist is erroneous, and as such must have a reason of its own. This reason is found in nescience. And so the nescience is not only subjective but also objective because it is co-pervasive with consciousness in its entire range.

Now the individual is not the seat of ignorance according to Sureśvara for twofold reason. In the first place, the individual is nothing different from Absolute Consciousness in point of reality. And if the individual be regarded as ontologically different from the Absolute, which is not however the position of any section of the monistic school, then also the individual cannot be regarded as the locus of nescience. The individualization of the self is itself the result of nescience and as such cannot be the determinant of the incidence of nescience which is its very presupposition. Nescience must have a local habitation of its own as the possibility of nescience as a floating entity would be absurd. It must then have pure consciousness as its locus and abode and from the evidence of our own experience we find that nescience is a felt fact. This shows that pure eternal consciousness cannot be opposed to nescience. On the contrary, it constitutes the only evidence of its being. Opposition is both *a priori* and empirical. The opposition of being and non-being is felt *a priori*. But other types of opposition are empirical and as such can be known only from experience. We have found that there is no opposition between pure consciousness and nescience. Pure consciousness means consciousness which is not determined by any objective reference. It is bereft of subject-object polarization. Pure consciousness thus means unpolarized consciousness. It is not relevant to our purpose to prove that unpolarized consciousness is possible though it is stoutly opposed by Rāmānuja and also the realists of the Nyāya-Vaiśeṣika school. The Sāṃkhya-Yoga school and also the Jainas admit the possibility of pure consciousness at least in the final state of emancipation.

Granted that there is no opposition between pure consciousness and nescience. But how to account for the opposition of nescience as error with

knowledge ? It is felt beyond the shadow of a doubt that our erroneous perception of shell as the silver is cancelled and corrected by knowledge of the shell in its true character. Our knowledge of shell is attended with negative judgment 'It is not silver'. This shows that there is opposition between knowledge and error which is nothing but a species of nescience. This has puzzled many a respectable philosopher and it has been seriously asserted that the Vedāntist is guilty of self-contradiction. True pure consciousness is an eternal and transcendental entity. As regards nescience, it is also asserted by the Vedāntist to be associated with the Absolute Consciousness which is pure and transcendental and undetermined by objective reference. There can be no difference in transcendental consciousness. But the difference of one consciousness from another is possible when it is made specific and particularized by objective reference, in other words, when it is possessed of a specific content and is called knowledge. Knowledge is consciousness in its essence, but it is different as a specific determination is from the genus. The opposition of error is with knowledge and not with pure transcendental consciousness which is rather the proof of it. Error is also a cognition with a distinct content and it is cancelled only by a cognition with an opposite content with reference to the same situation. It is the true cognition which cancels the false cognition. The true cognition is here called knowledge, and the false cognition error. The opposition only holds between them.

It has been argued by the opponent of the monist that there can be no nescience in the Absolute because of the *a priori* opposition between consciousness and nescience. But the opposition is not *a priori*, and so the argument has no validity. The very fact that we are conscious of nescience shows that there is no opposition between them. But though a felt fact and uncaused entity existing concurrently with the Absolute, nescience is not regarded as an eternal verity like the Absolute Brahman, because it is liable to be concelled and corrected by the unerring realization of the nature of the self as identical with the Absolute. It has been shown that nescience is destroyed by knowledge from the example of common error and its correction. The Vedāntist deduces from the fact the conclusion that nescience is not a reality in the true sense of the term. A reality is not capable of death or destruction. Nescience being liable to extinction cannot be regarded as a co-ordinate reality. But though not a reality, its actual existence is a felt fact and so cannot be denied without self-contradiction. The denial of nescience as well as its assertion is possible only within the limitation of nescience, because they are all judgments and as such have a dualistic reference. Of course, there can be no real relation between the Absolute and nescience. The Absolute is unattached and unrelated to anything within and without. But whatever be the ontological or logical character of the relation of the nescience, its actuality cannot be disputed. Even an unreal relation is possible just as an unreal nescience is.

A difficulty has been raised that the Absolute has been described as omniscient and certainly nescience is incompatible with omniscience. Ānandagiri has anticipated this difficulty and given a solution. It is this. Omniscience does not mean empirical knowledge of all things, but the eternal perennial light of consciousness which makes all knowledge possible. So there is no logical repugnance in the unreal association of unreal nescience with it. By logical thought we can understand that this is not impossible, but the actual nature of it can be realized only by perfect knowledge. When nescience is destroyed by knowledge, it becomes identical with the Absolute. Nescience is a fact which refuses to be determined by logical thought. Nescience cannot be said to exist unless the Absolute *quâ* transcendental consciousness is known. In other words, nescience cannot be felt without consciousness. But nescience also cannot be intuited as existent if the true nature of the Absolute as pure consciousness is realized. Moreover, who will be the knower of it—the person who suffers from nescience or who has emancipated himself from it ? The determination of the nature of nescience is not possible for the person who is subject to its sway, because this will mean that he is not fettered by nescience. As regards the emancipated self, the logical distinctions of the subject, the object, and the act of knowledge have totally vanished for him for ever, and so such determination is not possible. An organ of knowledge is not competent to guage unreality. It is only the real that can be determined by it. But nescience is *ex hypothesi* not a real because it does not stand the scrutiny of accredited cognitive organs. Nescience is called nescience because it is incapable of standing critical examination with success. In fact, the criterion of nescience is nothing but this incapacity for standing the trial by accepted instruments of knowledge.[1]

But the question may be asked 'Why are we enamoured of such an irrational concept ? ' You have yourself admitted that it is not capable of being determined by the accredited organs of logic. Why don't you admit that the world is both different and non-different from the Absolute ? Both you and myself admit the Absolute and the World, and the relation between them is asserted by us to be identity-cum-difference. The merit of this theory lies in the

1 avidyāyā avidyātva idam eva ca lakṣaṇam;
mānāghātāsahiṣṇutvam asādhāraṇaṃ iṣyate.
—*Sambandhavārttika*, 181, quoted in *SŚP*, p. 8.

consideration that it does not entail repudiation of anyone of the felt facts-the world and its cause the Absolute. Why should you postulate an irrational and unreal principle as the cause of the world process ?

The Vedāntist answers that after all his theory is the simplest of all. Moreover, it makes the postulation of a large number of irrational entities uncalled for. Thus the opponent who believes in the reality of the world process has to admit that it is both different and non-different from the Absolute. In the second place, he has to posit that bondage, though it is real and so uncaused, is liable to cessation. In the third place, he has to posit that emancipation is the product of religious and moral activity and is yet eternal. The monist only affirms nescience as the sole and sufficient condition of all these results. And though it exists from eternity alongside of and together with the Absolute, yet there is no logical difficulty in the fact that it is liable to annihilation, because it is felt to be unreal and so its disappearance does not entail logical contradiction which would be inevitable if it were real. But it might be argued that simplicity is not by itself a recommendation for a theory. If a multiplicity of things is necessitated by logical thought we cannot reject it for the sake of economy alone. But the Vedāntist agrees that simplicity or multiplicity without the sanction of valid cognition is not a compelling consideration in the determination of reality. But if the multiplicity of categories asserted by the opponent is found to be contradicted by accredited sources of knowledge, the postulation of it will be logically indefensible. Now the believer in reality of the world has to assert that the relation between the world and its cause is identity and difference both—a conception which is repugnant to all sources of knowledge. Secondly, he admits that the worldly career is a reality bereft of beginning in time, and to say that it is annihilated by true knowledge is opposed to the universally accepted proposition that a real uncaused and undated is eternal. Thirdly, it asserts emancipation to be the product of moral activity and yet to be eternal. This is opposed by the universal proposition that whatever is caused to happen at a particular time cannot but be liable to extinction. These are the major contradictions in the theory of the opponent, and there may be many more, if minor details are to be taken into account. As regards the Vedāntist's theory, it only postulates nescience and this is not also an unwarranted assumption since it is endorsed by experience and scriptural authority alike.[1]

The Jaina frankly confesses his inability to appreciate the argument of the

1 *Cf.* tvatpakṣe bahu kalpyaṃ syāt sarvaṃ mānavirodhi ca;
kalpyāvidyaiva matpakṣe sā cānubhava-saṃśrayā.
—*Sambandhavārttika,* 182, quoted in *SSP*, p. 9.

Vedāntist. In the first place, the postulation of nescience which the Vedāntist himself admits to be incapable of any proof strikes him as an unphilosophical position. It is extremely puzzling that a philosopher should subscribe to a position which is not amenable to test by any accredited organ of knowledge. Whatever may be the subject of dispute, call it truth or untruth, science or nescience, the matter can be finally decided by means of the accredited sources of knowledge available to us. The Jaina does not dispute the existence of nescience, but he insists that this is also a matter of proof. When the Vedāntist asserts nescience as an actual existent, he is certainly aware of its existence. And this awareness must be true and valid. Otherwise, he will not be in a position to make the assertion. The Vedāntist had to admit that nescience is a felt fact. But he chooses to call the awareness of nescience an alogical knowledge. The reason seems to be the opposition of nescience with knowledge which is also a felt fact. That we commit error is not open to dispute. That this error is corrected and cancelled by knowledge of the true character of reality such as of the shell as opposed to silver, is not also liable fo be disputed. But the cancellation of error, which consists in the proof that the predicate does not belong to the subject in the context in spite of its reality in another context, need not be construed as evidence of the unreality of error or of its content. That we make error is also capable of being established by a veridical knowledge. This is apparent from the consideration that the Vedāntist also cannot deny that we misperceive shell as silver. This misperception is a fact which can be known by an unchallengeable cognition. And this cognition is possible if an organ of cognition operates upon the fact. But the Vedāntist may urge 'Well, if error be an object of veridical cognition, it will be a real like true cognition. Not only this, it will also have to be admitted that the knowledge of error will be true knowledge, and this will amount to the assertion that there is no difference between error and truth.'

The Jaina does not regard these objections as real difficulties. In the first place, he admits that error is as much a fact and verity as truth. In the second place, he admits that the cognition of error is true cognition. In other words, the Jaina believes that error as a psychical event is a true occurrence, and its cognition is the cognition of a true fact. It has been observed by Akalaṅka 'A cognition is true in reference to a fact which is not contradicted by another cognition'.[1] The Vedāntist also endorses the factuality of error as a psychical fact, and he also admits that there is awareness of such error. But he refuses to give

1 na ca pramāṇānām avidyāviṣayatvam ayuktam, vidyāvad avidyāyā api kathañcid vastutvāt. tathā vidyātvaprasaṅga iti cet, na kiñcid aniṣṭam 'yathā yatrāvisaṃvādas tathā tatra pramāṇatā' ityakalaṅkadevair uktatvāt.
—*SSP*, p. 9.

this awareness the status of a true cognition, and he thinks the content of error, at least the predicative part of it, as neither real nor unreal, but something logically indeterminable. The reason he advances in support of his position is that it is set aside by a true cognition following upon it. Nobody denies that error is corrected by a subsequent valid experience. But that should not be interpreted as evidence of the unreality of the cognition or of the content. It may be false cognition but nonetheless it is a cognition, and true so far as its occurrence is taken into consideration. It is regarded as error because the external object is not possessed of the predicate judged to belong to it in error. The contradiction only proves that the predicate does not belong to the subject and nothing more. It has already been explained that the contradiction cannot mean that error did not happen. Error is bound to be admitted as historical event, and to be true so far as it is a real happening. The Vedāntist has affirmed that the awareness of error is effected by pure consciousness, and as such cannot be assigned any logical value. But this seems to be a distinction without difference. Granted that error is felt by pure consciousness. But why should this awareness be not valid ? If the awareness of error be invalid, there will be no possible means of asserting that it is a psychical occurrence. The question of validity or invalidity of a cognition is not capable of being decided by the intrinsic character of the cognition in question. The validity of a cognition can be decided by external evidence, at least in the initial stage. A cognition is regarded as invalid only when it is found to be contradicted by a subsequent cognition showing that the predicate does not belong to the subject. The awareness of error, no matter whether pure or empirical, is not contradicted by any subsequent congnition. The subsequent cognition does not annul the historicity of error as a cognition. It only shows, as we have observed, that the predicate does not belong to the subject. Thus there does not seem to be any logical warrant for questioning the validity of awareness of error as a fact whether it be classed as empirical or metempirical.

As regards the contention of Sureśvara that nescience or error is not determinable by a valid cognition or an instrument of it, the Jaina does not think that it is based upon truth. It has been observed that a cognition is proved to be false when it is contradicted by a subsequent cognition having the same reference. The contradicting cognition is held to be true by all even including the Vedāntist. This shows that error is proved by truth which is based upon a true objective datum. The Jaina accordingly thinks that the Vedāntist's interpretation of error as an alogical fact is due to a hasty appraisal of the logical issue. Error as well as truth is always capable of being determined only with reference to reality. When the cognition is found to correspond to

the objective situation in all respects it is called truth. When, on the other hand, it fails to conform to reality in any respect it is called false. So nescience as error is always determinable with reference to reality, and that again by means of an accredited organ of knowledge. As for the further contention of Sureśvara that nescience is not possible for a person possessed of knowledge, it is observed that nescience is not possible in a person who is possessed of perfect knowledge and as such is omniscient. But there is no evidence to show that it is not possible for a man whose knowledge is limited. The assertion of Sureśvara that knowledge is futile in respect of a person free from nescience is also not based upon truth. Freedom from nescience makes perfect knowledge possible, and this knowledge is not futile because everybody will admit that it is covetable for its own sake. So how can knowledge be futile for a person free from nescience. The assertion of Sureśvara again that the determination of nescience in a person is possible only so long as he is under the hypnotic spell of nescience is entirely wide of the mark. The differentiation of nescience from truth is possible only when a person discovers the truth. Were a person completely under the spell of nescience, such differentiation would not be possible. The truth of the proposition asserted here is borne out by the evidence of dream. The dreaming man cannot distinguish between truth and error, because he is completely enmeshed in nescience in dream.[1] So Sureśvara's catagorical affirmation that determination of nescience is possible only under the sway of nescience is entirely opposed to fact. It might be contended that if nescience as error be a true cognition, then there will be no reason for its being contradicted by a subsequent cognition ; but the fact that it is so contradicted shows that it is entirely false. But the Jaina asserts that there is no incompatibility in the situation. Error is regarded as a true cognition only in a sectional reference. It is true so far as its reference to the subject is concerned, and also so far as it is felt by the person, that is, with reference to its own being. When the deluded person thinks that he is ignorant or in error, he does not make a false assertion. This shows how a cognition though true so far as it goes and so far as its particular reference is concerned, can be contradicted by a subsequent experience and thus be false in some particular reference. The dilemma raised by Sureśvara that nescience is not intelligible whether the self is known or not known proceeds upon partial appraisal of truth. There is no incompatibility in the fact that a partially illumined person is subject to error and illumina-

1 na cāvidyāyām eva sthitvā 'asyeyam avidye'ti prakalpyate, sarvasya vidyāvasthāyām evāvidyetaravibhāga-viniścayāt, svapnādyavidyādaśāyaṃ tadabhāvāt.—*SŚP*, p. 9.

tion alternately or simultaneously.[1] Nescience is impossible of realization only in the case of perfect knowledge and total ignorance. But the latter alternative is impossible because there is no self which is totally devoid of knowledge, which is the possible outcome of total ignorance. As regards the former alternative, the contention is only partially true. A man with perfect knowledge is not subject to nescience. But he realizes and transcends his nescience only with the dawn of such knowledge.

Again, Sureśvara has asserted that nescience is an irrational principle and the fact that it eludes all the epistemological resources is rather symptomatic of its true character. But the Jaina would pose a simple question 'How do you know that nescience is not amenable to logical proof ? Are you sure that it is so ? If so, what is the source of your conviction.' If the Vedāntist confesses that he has no resource which enables him to make such assertion, then he will be guilty of unabashed dogmatism. If, on the other hand, the Vedāntist is sure of the truth of his assertion, this will mean that nescience is not altogether incapable of logical determination. At any rate the determination of nescience as alogical principle must be based upon truth and consequently secured by an accredited organ of knowledge.

Sureśvara has claimed that the postulation of nescience as the prius of the world process makes Vedānta philosophy the simplest of all systems. It may be so. But this simplicity is more apparent than real. The plurality of entities with their infinite varieties is a felt fact. Nescience was posited over and above the absolutely undifferenced transcendent consciousness called the Absolute because it was felt that plurality, even as appearance, cannot be deduced from a simple unity. But if nescience be only another unitary principle, it also will not be competent to produce the appearance of plurality. For this it has been assumed that nescience possesses an infinite plurality of powers. Thus the claim of simplicity is based upon a quibble. It has however been claimed that nescience with its infinite resources and powers is an unreality and so the only reality is pure consciousness. But the assertion of unreality of nescience is a puzzle which runs counter to the verdict of experience and logical thought. The Vedāntist says that it is not real because it exhibits self-contradiction in every stage. The things of the world are subject to constant change and this means the extinction of the old order and emergence of a new one. But if a thing is to be real in its independent capacity and right, it cannot be supposed that it should diminish or increase or cease to be or come into being. Origin

1 na cātmani kathaṃcid aviditepyavidyeti nopapadyate, bādhā'virodhāt. kathaṃcid vijñātepi vāvidyeti nitarāṃ ghaṭate, viditātmana eva tadbādhakatvaviniściteḥ kathaṃcid bādhitāyā buddher mṛṣātvasiddheḥ.—*SŚP*, p. 9.

and destruction are unpredicable of a real. A real is real always and so must remain constant. The erroneous silver is unreal because it ceases to be when it is contradicted by knowledge of the shell. If a real were capable of origination and cessation like false silver, there would be no criterion possible for the distinction of real from unreal. It must therefore be admitted that constancy and continuity and consequently the absence of lapse from uniformity are the true characteristic of a real. But these tests are incapable of being applied to the objects of experience. The conclusion is inevitable that they cannot be real. The Jaina philosopher asks : What is the source of the knowledge of this peculiar nature of reality ? The ultimate nature of things can be known by experience alone. Well, what is the ground for our belief that consciousness is existent and also is the proof of the existence of other things ? The answer must be that it is felt to be so. Consciousness is its own guarantor and proof of its own reality. As regards unconscious matter, its existence is established by means of consciousness. It cannot be asked why consciousness should be self-evidenced and matter be dependent upon consciousness for the proof of its existence. The question is a question of fact, and not of reason. The nature of thing is inalienable and must be accepted to be what it is. Can anybody answer why fire should be hot and water cold, and not vice versa ? No, because it is a question of fact. Similarly the nature of reality is to be deduced from the testimony of experience. The existence of things which are experienced is obvious and self-evident. If you call in question their credentials, the fact of existence and consciousness which are posited by the Vedāntist to be the ultimate reality will not also be immune from such doubting interrogation. The result will be unrelieved scepticism or universal negation. The Vedāntist had the good sense and sanity not to acquiesce in this suicidal estimation. The Jaina would respectfully and earnestly ask the Vedāntist to carry his determination of reality consistently to its natural conclusion. He accepts existence to be the ultimate truth solely on the testimony of experience. But as experience records change as the integral character of existence or rather of things felt to be existent, it beats one's understanding why change should be declared as unreal appearance. The Vedāntist has contended that change involves lapse of being into non-being and this is a case of self-contradiction. Reality must not be self-contradictory. But as change is fraught with contradiction, it is to be unceremoniously thrown overboard as an unreal and unjustifiable appearance. But the Jaina is a frank realist, and is candid in his confession of faith in the verdict of experience. The Vedāntist thinks that there is pure being which is incompatible with pure non-being. But pure being is an abstraction, and we have no experience of it. So also is the case with pure non-being. What we find in experience, including

the principle of consciousness itself, is concrete being which is a unity of different entities. Thus we never come across a pure substance denuded of qualities and actions. A substance is always a unity with the multiplicity of attributes. Why should the Vedāntist scent contradiction in it ? He should take the reality as a whole and the attempt to clip away a part of its character only bespeaks unwarranted zeal for abstract thinking. It is no doubt true that the diversity of reals encountered by experience exhibits existence as their universal trait. But the universality and continuity of this trait and the discontinuity of other traits are facts alike. The former should not be vested with truth and the latter dismissed as appearance.

Similarly, one should not read contradiction in the combination of identity and difference when they are endorsed by uncontradicted experience. The Vedāntist accepts the aspect of identity and rejects the aspect of difference, because he thinks that the nature of reality is absolutely simple. But this is only the outcome of his bias for *a priori* logical thought in preference to and contradiction of experience. We could accept this assessment of reality if the dictates of *a priori* logic were found to be confirmed even in a single instance of our experience. The Vedāntist is too astute a thinker not to be aware of this weakness in his position. Accordingly he appeals to dreamless experience. He asserts that pure existence is felt in this state. He also appeals to samādhi (ecstasy) in which the spiritual aspirant realizes the reality as a homogeneous simple unity bereft of intrinsic and extrinsic difference. But the state of samādhi is not attainable by all. If a gifted soul experiences it, that does not afford any help to men of limited knowledge who are enquirers after truth. So it has no philosophical value. As regards dreamless experience, it is not also beyond dispute. So the Vedāntist has to rely upon the revealed texts of the Upaniṣads and upon pure logic. So far as the Upaniṣadic texts are concerned, the interpretation of the monist is not accepted as the last word. There are other interpretations also. It may not be out of place to remark that the Jaina scriptures[1] also have discussed these texts and have offered their own interpretation which is at variance with that of the monist. As regards pure logic, the Jaina attitude towards it has been elucidated with as much clarity and precision as has been possible for us. The consequential objections of Sureśvara regarding bondage and emancipation do not cause much difficulty to the Jaina. The Jaina believes that bondage is a real condition of the self, and though existing from the beginningless time as coeval with the individual yet it is liable to be transcended. Emancipation is nothing but the disentanglement

1 *Cf. Viśeṣāvaśyakabhāṣya*, 1596–1603.

of the self from the karmic matter. The karmic matter is not destroyed but pulled out. The pure nature of self which is realized in emancipation is not a new creation in the absolute sense. It was always there. But the karmic matter served to obscure it. The Jaina believes in change because it is found to be the universal character of all reals and if it means transition from being to non-being in a sectional reference, the Jaina is not frightened by it. So the objection of Sureśvara that emancipation, being a product of a process, will be liable to destruction does not cause any difficulty. The Vedāntic solution that bondage and emancipation are both illusory cannot be regarded as the only satisfactory explanation, as it has been made abundantly clear that the denial of plurality, in defiance of experience, cannot escape from fall into the abyss of universal nihilism or scepticism which Nāgārjuna and his followers have shown to be the inevitable conclusion of pure logic.

3. The Buddhist Idealism

The subjective idealism of the Yogācāra Buddhist is to be distinguished from the Vedāntic Monism. The Absolute Brahman of the Vedāntist is eternal, (cognizable by all kinds of cognition), and one. But the vijñāna (consciousness) of the Yogācāra Buddhist is momentary, subjective or self-intuited (cognizable by self alone), and numerically different in each consciousness-stream.[1] Vidyānanda here records the theories of knowledge propounded by the Sautrāntika Buddhists, Yaugas (Naiyāyikas and Vaiśeṣikas), Sāṃkhyas and the Jainas. These theories are refuted by the subjectivist who thus proves that all definitions of the cognitum (vedya) and the cognizer (vedaka) are untenable.[2] He proves the falsity of all instruments of cognition by the following argument : 'Whatever is of the form of cognitum and cognizer is false, e. g., dreams and illusions ; our perceptions and the like are on a par with these latter, and hence false'.[3] Our perceptions and all other organs of knowledge being false, there is no proof of the reality of external objects. The subjectivist however does not deny the individual units of consciousness which he admits as the source of appearance of our

1 *Cf.* Vidyānanda's statement : saṃvidāṃ kṣaṇikatvenā'nanya-vedyatvena nānāsantānatvena ca nityatvena sarvavedyatvenai'katveneva parabrahmaṇaḥ svasaṃvedanābhāvāt.—*SŚP*, p. 12. The printed text in *SŚP* is corrupt. See *Aṣṭasahasrī*, p. 241.

2 *Vide SŚP*, p. 11 : sautrāntikaparikalpita-tajjanma-tādrūpya-tadadhyavasāyāḥ... tataḥ kasyacid api grāhya-grāhaka-lakṣaṇasyāyogāt sarvaṃ grāhya-grāhakākāra-jñānaṃ bhrāntam eva.—*SŚP*, p. 11. See also *Aṣṭasahasrī*, p. 240.

3 yad grāhya-grāhakākāraṃ tat sarvaṃ bhrāntam, yathā svapnendrajālādijñānam, tathā ca pratyakṣādikam.—*SŚP*, p. 11.

cognitions polarized as cognitum and cognizer.[1] Pure consciousness alone is real. Even as paintings drawn on plane surface appear solid with depressions and elevations, so does the pure consciousness appear as subject and object to the deluded person under the influence of nescience. The idealist proves his thesis by the argument : 'The objects-chair and the like-are not different from their cognitions, because they are cognized by them, e. g., the cognition which is cognized by itself.' And he refutes the realist's position thus : 'The chair and the like are not external material objects, because they are cognized, e. g., pleasure and the like which are internal and immaterial.'[2]

The Jaina philosopher observes that the subjectivist establishes his position by means of inference, and refutes the validity of all instruments of knowledge in the same breath. This is nothing but blatant self-contradiction. Without the support of an organ of knowledge, the Buddhist cannot prove the falsity of the theories of rival philosophers who believe in extra-mental reality. Not only this, the subjectivist cannot prove the falsity of the differentiation of cognition into an act and content. He holds that our cognitions are momentary and self-intuited and that there are other epistemic subjects. Certainly all these facts cannot be proved by our intuitions. The service of inference as a valid instrument of knowledge must be requisitioned.[3] A cognition may be felt by itself, but it is not felt as momentary, or as not cognized by another. Moreover, if the cognition has no veridical reference to a real extra-subjective fact, how can the subjectivist believe in the existence of other subjects ? The denial of genuine extra-subjective reference must end in solipsism. If the entire logical apparatus including the difference of probans and probandum and the necessary relation between them be a false creation of nescience, then the subjectivist cannot prove anything including his own position. The subjectivist seeks to establish the identity of content with cognitions on the ground of the two being felt together.[4] But this very assertion proves that he believes in the duality of cognition and content. Is this not a case of self-contradiction like the vocal statement of a person: 'I am an observer of the vow of silence' ?[5] It has however been argued in defence by the subjectivist that this line of attack on the part of the opponent is neither fair nor consistent. How can the charge of a fallacy or a self-contradiction be advanced against the subjectivist when the opponent knows that the former does not believe in the reality of anything other than consciousness ? The use of logic will become superfluous after the ultimate truth viz, the reality of consciousness alone is realized. Dignāga and his followers in spite of their ultimate conviction of the truth of pure consciousness alone have elaborated logical weapons and this is not inconsistent with their philosophical convictions. They have frankly avowed that logic has its place and utility only on this side of realization of the ultimate truth and is necessary to combat the prevailing misconceptions of philosophers. So the charge of self-contradiction or inconsistency is nothing better than *argumentum ad hominem*.

1 saṃvittir eva khaṇḍaśaḥ pratibhāsamānā sakala-vedya-vedaka-vyavahārāya kalpyate.—*SŚP*, p. 11.

2 *Cf*. nīlādiḥ saṃvedanād avyatiriktas tadvedyatvāt, tatsvarūpavat; na jaḍo nīlādiḥ pratibhāsamānatvāt, sukhādivat.—*SŚP*, p. 14.

3 yogācāreṇa vijñānānāṃ kṣaṇikatvam ananyavedyatvaṃ nānāsantānatvam anumānenaiva vyavasthāpanīyam.—*SŚP*, p. 12.

4 *Cf*. nīla-tajjñānayor abhedaḥ sahopalambha-niyamāt.—*SŚP*, p. 13.

5 ...sadā mauna-vratiko'ham ityabhilāpavat sva-vacanavirodhasyaiva svīkaraṇāt.—*Aṣṭasahasrī*, p. 242.

The Jaina philosopher observes that his charges could be ineffective if the Buddhist idealist succeeded in proving that his conclusion was established by an unimpeachable logical ground. Dharmakīrti asserts that the 'identity' of cognition and content follows from the 'necessity of their being known together' (sahopalambha-niyamāt). But what is the meaning of the expression 'the necessity of being known together' and of the term 'identity' ? The former may possibly be interpreted as the 'absence of separate cognition' and 'identity' may be understood to mean 'absence of numerical difference'. In other words, the 'negation of separate cognition' may be made the ground for the inference of 'negation of numerical difference'. But this is not possible because there can be no necessary relation between two negations. As regards such negative inferences as of the 'absence of smoke' from the 'absence of fire', or the 'absence of triangle' from the 'absence of figure', they are legitimate only because they derive their cogency from the necessary concomitance between their positive counter-terms. Thus there is necessary concomitance between effect and cause, and so the negation of cause leads to the inference of the negation of effect. Likewise, there is necessary concomitance between 'figure' which is the genus and 'triangle' which is the species. And so the negation of the former entails the negation of the latter. There is no independent relation possible between two negations. The Buddhist argument could be effective if the positive concomitance between 'separate cognition' and 'numerical difference' were possible. To be explicit, the Buddhist is the last person to assert that a separate cognition of the content from that of the cognition concerned is possible by means of which the numerical difference of the cognition and content can be established ; for the admission of the possibility of the content, separate and numerically different from that of the cognition, will knock out the Buddhist position of identity of cognition and content. The Buddhist therefore is preclu-

ded from asserting a logically necessary relation between their corresponding negations as negations have no independent logical relation apart from that of their opposite positives. The result will not be different even if either of the terms be given a positive interpretation. Thus if the probandum be asserted to be positive identity, it cannot be proved from negative probans, because there can be no relation between a positive and a negative term. Causality and identity of essence are recognized to be the two types of necessary relation. But these two relations are found to obtain between positive entities and not non-entities, nor between an entity and a non-entity. The same difficulty will stand in the way if the probans is supposed to stand for a positive fact. But let us see if the Buddhist can establish his position by making the probans and probandum both positive. Thus it may be interpreted that the 'necessity of being known together' means 'identity of the cognition' and the probandum is 'identity of the two'. But this interpretation would make the inference a case of tautology because the probans will not be different from the probandum. What the Buddhist seeks to establish by this argument is that the content and the cognition are not different but identical. So 'identical cognition' is found to be the probandum and the probans is also nothing but 'identical cognition'. But the Buddhist may argue that the truth of the identity of cognition is established by means of abolition of the difference between content and the cognition, because an identical cognition is incompatible with the numerical difference of contents. Thus in every cognition the content is cognized together with the cognition. And the cognition is as much a content of itself as the content is supposed to be. This necessary compresence of the contents in the same cognition is not intelligible without identity. The felt difference must then be an illusion. The Jaina avers that the necessity of compresence of two or more contents in one cognition proves neither the identity of the contents *inter se* nor the identity of the contents with the cognition. Thus a substance and its qualities are always perceived together, but this identity of perception does not annul the difference of the contents, nor the difference of the cognition from them. Nor is it our conviction that when many things such as the chair and the table and the other furniture in a room are perceived together, their mutual differences are abolished. But if this association be regarded as accidental, the example of substance and quality will rebut all doubt of falsity of inference. The subjectivist himself admits that the omniscient Buddha cognizes all the different consciousness-centres (which appear as so many subjects). But he does not conclude that all the different subjective centres are really identical with the Buddha. Moreover, we do not find any logical absurdity in the supposition that things may be perceived together and yet be different from one another. Thus, for

instance, when any subject is seen, it is seen together with light. But nobody will conclude from this that light and the jar or the pen are identical. It is quite possible to argue that the relation between cognition and its content is one of illuminer and illumined. And that they are felt together is due to the fact that without the cognition of the one the other cannot be cognized. In other words, the relation may be one of means and end, condition and conditional. The argument of the Buddhist is the prototype of the argument of the Vedāntist which we have considered before. The Vedāntist has argued from the coincidence of the content and cognition to their necessary identity and integration. The Jain explained this by asserting the relation to be one of identity-in-difference. The same conclusion will follow from the Buddhist argument of necessary compresence.

4. The Cārvāka Materialism

The Cārvāka philosopher denounces soul and the possibility of omniscience. The scriptures that exist contradict each other and thereby prove their own falsity.

The so-called jīva or ātman (soul) is nothing but a temporary product of material elements. It was not before birth, nor will it continue to exist after death. There is no life hereafter.

The Jaina philosopher observes that the materialist's denial of soul as an independent principle of consciousness goes against the law of causality. The nature of consciousness is radically different from matter and so it cannot be the product of material elements. The effect must be essentially homogeneous with the cause and reducible to the latter in turn. The law of causality demands that the cause and its effect must be mutually reducible.[1] Consciousness is not reducible to matter and hence cannot be a material product. Moreover, the existence of soul is proved by self-intuition (svasaṃvedana). We feel pleasure and pain, joy and sorrow, which presuppose a conscious substance as their substratum.[2] The materialist cannot deny self-intuition. He must accept cognition as self-cognized in order to cognize the object. It cannot be admitted that the cognition is cognized by another cognition, because the second cognition would require a third, the third a fourth, and so on *ad infinitum*, leaving the object uncognized for ever. Nor can the materialist regard the cognition as cognized

1 Vidyānanda cites examples of such reducibility in the following passage : na ca teṣāṃ parasparam upādānopādeya-bhāva-darśanam asiddham, pṛthivyātmaka-candrakānta-sūryakānta-kāṣṭha-viśeṣebhyo jalānalayor utpatteḥ.—*SŚP*, p. 16.

2 sukha-duḥkha-harṣa-viṣādādyaneka-pariṇāmātmakasyātmatattvasya svasaṃvedana-pratyakṣeṇa nirbādham anubhavāt.—*SŚP*. p. 16.

by inference, because he does not accept the validity of inference. He is therefore compelled to admit self-intuition, and consequently the existence of the self or soul as the substratum of that intuition.

Being radically different in nature from the material products, the soul must be eternal unlike the latter.[1]

The negation (pratiṣedha) of soul entails the reality of it, because in all genuine negations, the negatum must be a positive fact. Even the negation of square-circle presupposes separate reality of square and circle elsewhere. The figurative usages (gauṇakalpana) like 'his pictures lack soul' also argue the existence of soul. All simple words (śuddha-pada) signify positive reals. The word 'soul' is a simple word and so must stand for a positive fact. There is also consensus of opinion among eminent men (aneka-viśiṣṭa-jana-sammati) and the testimony of the omniscient souls (jina) in favour of the existence of soul, which has been established by unimpeachable arguments of logic too.[2]

The material elements are known as external objects while consciousness is felt as internal. This argues their absolutely different nature. Moreover, it is a common experience that a new-born babe has desire to suck the breast of his mother. This desire would be unexplainable in the absence of his recognition of the breast as milk-secreting organ. The recognition again presupposes memory and memory is based on past experience in a previous life. There are also instances of ghosts appearing and telling their story and gifted persons remembering their past lives.[3]

The obvious disparity and variation in the mental and moral faculties of different individuals must have a cause, and this cause is asserted to be merits and demerits earned in previous lives. And this is the Moral Law which is the proof of life herebefore and hereafter.

As regards the possibility of an omniscient soul, the Jaina asserts that the materialist cannot adduce any proof against such possibility. The materialist accepts perception alone as the valid instrument of knowledge. And perception, being capable of cognizing positive objects alone, cannot cognize the absence of omniscience. Even if perception is admitted as capable of cognizing the absence, the materialist should clarify whether it is capable of

---

1 vivādāpannaṃ caitanyam anādyanantaṃ prithivyādi-samudāya-śarīrendriya-viṣayebhyo 'tyanta-vailakṣaṇyasyā 'nyathānupapatteḥ.—*SŚP*, p. 17.
2 pratiṣedha-gauṇakalpana-śuddhapadā-nekasammati-jinoktaiḥ;
nirbādha-lakṣaṇārthair lingair api bhāvyate bhāvaḥ.—Quoted in *SŚP*, p. 17.
3 tadaharja-stanehāto rakṣo-dṛṣṭer bhavasmṛteḥ;
bhūtānvayanāt siddhaḥ prakṛtijñaḥ sanātanaḥ.—Quoted in *SŚP*, p. 18.

cognizing the absence of omniscience in a particular soul at a particular moment, or in all souls at all times. The first alternative will not refute our position, while the second would prove the omniscience of the materialist himself, and land him in self-contradiction.[1]

5. The Sautrāntika Fluxism

The Sautrāntika Buddhist is a realist in the sense that he believes in the reality of the material atoms and the psychical factors like feeling, cognitions (determinate and indeterminate), names and concepts (saṃjñā) and predispositions (saṃskāra). These reals are discrete and momenatry. They form conglomerates, but do not give up their discreteness in any way. They last only a moment giving rise to their facsimile in the next moment. The first moment is regarded as the material cause (upādāna) and the second the effect (upādeya). The combined stream of these reals gives rise to the false notion of a permanent self, which is due to the absence of gap (avyavadhāna) between the effect and the cause, extreme rapidity of production (laghūtpatti) of the former from the latter, and their close similarity (sādṛśya). The recognition of identity between the effect and the cause also does not prove permanence. It is an illusion which is on a par with the illusion of the identity of ever growing nails, hairs and the like.

Liberation (mokṣa) for these Buddhists consists in the disruption of the consciousness-stream by making it unproductive. The practice of detachment and contemplation helps one to get rid of nescience (avidyā) and clinging (tṛṣṇā) and finally suck dry the productivity of the consciousness-stream. The aspirant to liberation should cultivate the four noble truths, viz, that existence is nothing but suffering (duḥkha), that avidyā is the main source (samudaya) of suffering, that cessation (nirodha) of suffering is possible, and that there is a way (mārga) to the cessation of suffering. Vidyānanda also mentions the eight constituents of the way to the cessation of suffering.[2] But these do not appear to be faithful to the Buddhist enunciation. Liberation is likened to the extinction of the light of the lamp on the exhaustion of oil and wick.

The Jaina philosopher considers this Buddhist view of things to be opposed

---

1 kiṃ ca sarvajñatvābhāvaḥ pratyakṣeṇa kvacit kadācit kasyacid vyavasthāpyate, sarvatra sarvadā sarvasya vā. tatrādyapakṣe parasyeṣṭāpādanam; dvitīyapakṣe sarvatra sarvadā sarvasya sarvajñatvābhāvaṃ pratyakṣataḥ saṃvidan svayaṃ sarvajñaḥ syāt. tathā sati vyāhatam etat sarvajñābhāvavacanaṃ cārvākasya.—*SŚP*. p. 19.
2 *SŚP*, p 21. Also see *Aṣṭaśatī* on *ĀM* 52, which appears to be the original source of the statement.

to experience and logic. The objects that we perceive are massive, permanent, and composite. We never perceive the atomic, momentary and simple objects.[1] The Buddhist philosopher cannot dismiss this perception as illusory unless he succeeds in pointing out a perception which cognizes the momentary simple atom. Dharmakīrti has defined perception as 'cognition which is free from conceptual constructions and non-erroneous' (pratyakṣaṃ kalpanāpoḍham abhrāntam). If all our perceptions are dismissed as illusory, the definition would have no scope. We do never perceive the atoms and so these also cannot be regarded as the object of such perceptions. The indeterminate perception also is not capable of cognizing the atoms. Moreover, it is devoid of the certitude which is an essential condition of the cognition being valid and non-discrepant (avisaṃvādaka). Even as a person ignorant of the nature of poison fails to determine the poison as poison by perception, so an indeterminate perception is *ipso facto* not capable of determining the nature of the object. Nor can the indeterminate perception determine its object by means of a determinate cognition produced in the next moment, because the determinate cognition would require the production of another determinate cognition the its own determination, and so on *ad infinitum.* Moreover, it is impossible that an indeterminate perception should produce a determinate cognition in the next moment. An ass cannot produce a horse. If a perception free from conceptual constructions could produce a determinate cognition which is conceptual, why should not the atomic real (svalakṣaṇa) itself be admitted as capable of generating the determinate cognition directly without the intervention of the indeterminate perception.[2] The Buddhist cannot set down the conceptual constructions to the activity of predispositions and perversities influencing the indeterminate perception in the production of the determinate cognition in the next moment. These predispositions and perversities will ever remain active and make the indeterminate perception itself vitiated and contaminated and incapable of cognizing the true nature of the object.

The indeterminate perception thus is found incapable of establishing the reality of atoms. And the determinate cognition, being conceptual in character, is unfit to perform the function. Inference, being based on perception, is also incompetent to do the duty.

The Buddhist might contend that composite wholes are not real. The

1 na hi pratyakṣe sūkṣma-kṣaṇikā-sādhāraṇa-rūpāḥ paramāṇavaḥ pratibhāsante, sthūla-sthira-sādhāraṇākārātmanām eva ghaṭādīnāṃ pratibhāsanāt. —*SSP*, p. 21.

2 abhilāpaśūnyād apyadhyakṣād vyavasāya-kalpanāyāṃ svalakṣaṇaṃ kiṃ nādhyavasāyaṃ janayet svayam abhilāpaśūnyam api.—*SSP*. p. 22.

parts constitute the whole. But what is the relation between the whole and the part ? The whole cannot reside in the parts individually or jointly. The postulation of a pecular relation called samavāya in the inherence is also not helpful, because samavāya in the ultimate analysis is nothing but another name of what we call 'residence'. The cancept of a composite whole is thus an absurd notion.

The Jaina philosopher postulates the relation of identity-in-difference between the whole and its parts, which is exactly similar to the relation obtaining between a cognition and its two constituents, viz, the cognizing agent and the congnized content. The cognition, the cognizer and the content are three distinct facts inseparably rolled into one.[1] They are identical as well as different. The relation is *sui generis* and for want of a better name may be called identity-in-difference. The whole is as much a real unity as each of its parts. There is nothing repugnant in admitting the atoms as combining together to make one unit which is amenable to perception, And such unity must be admitted as real. Otherwise, there being no unity available at any stage, the unity of atom would also remain unestablished.

The question of the reality of universals is also raised by Vidyānanda in this context. The Jaina philosopher identifies the universal with similarity or resemblance. Similarity must be admitted as real. Otherwise there could be no occasion for the erroneous cognition of shell as silver. There is similarity between shell and silver, which is responsible for the occurrence of erroneous cognition in the presence of the other relevant conditions of error. The Jaina philosopher does not admit the category of eternal and ubiquitous universals of the Nyāya-Vaiśeṣika philosopher, for he does not believe in any valid experience of such category.[2] This similarity is called horizontal universal (tiryak-sāmānya) in Jain philosopby.[3] There is another called vertical universal (ūrdhvatā-sāmānya) which relates to the identity of a substance through time.[4] A substance changes but does not cease to be. It is permanent and also one. This permanence and unity is called vertical universal. The Jaina philosopher does not find any difficulty in admitting the same self running through different modes and preserving its identity. He likens this vertical identity to the unity of a cogni-

1 yathaiva hi jñānasya vedya-vedakākārābhyāṃ tādātmyam aśakyavivecanatvāt, ...tathā avayavyāder apyavayavādibhyas tādātmyam aśakyavivecanatvād eva.—*SŚP*, p. 24.

2 na ca sādharmyād aparaṃ saṃānyam asti, tasya nitya-vyāpi-svabhāvasya kvacid apyapratívedanāt.—*SŚP*, p. 26.

3 sadṛśapariṇāmas tiryak khaṇḍa-muṇḍādiṣu gotvavat.—*PKM*, IV. 5 (p. 467).

4 parāpara-vivartavyāpi dravyam ūrdhvatā, mṛdiva sthāsādiṣu. —*PKM*, IV. 6 (p. 488).

tion which has a variety of colours and forms, spread in space, as its content. Even as a single cognition can cognize a number of forms and colours in one sweep and be one unitary fact, so does a substance remain one while passing through different modes in succession.[1] Moreover, if causal efficiency is the criterion of reality, the real should be admitted as permanent and transitory both. The momentary is not capable of exercising causal efficiency either in succession or in non-succession and as such cannot be real.[2] The same is the case with an absolutely permanent entity. The Jaina accepts causal efficiency as the criterion of reality, which, according to him, presupposes that the real should be both permanent and transitory.

The Buddhist has denied a permanent self underlying the course of psychical events which happen in different times. What exists and is possible is only the present momentary unit. The past is defunct, and the present is lost after its turn. This makes the continuity of personal life impossible, and consequently the continuity of present life into the future and the necessity of the law of karman that the performer of good or bad act will have to bear the consequence become impossible of explanation. The Buddhist has abolished the permanent soul and replaced it by a series supposed to be governed by the law of causality. The past produces the present and the present produces the future, and in the production the cause communicates its ethico-religious bias into the effect. This seems to be a solvent of the difficulties involved in the breach of continuity. But is causation possible in the absence of a real link between the past and the present ? The previous consciousness-unit is dead and defunct when succeeding unit happens. But how can a defunct and non-existent fact be the cause of anything ? Nobody can think that the present occurrence is due to an event which has occurred in the remote past. The reason for this is that the past is not in existence to influence the present event. It might be contended that the immediately precedent event can be the cause of the immediately succeeding one. But how can the effect come into existence in the absence of the cause and yet be due to it ? In the Buddhist theory the cause ceases to be when the effect comes into being. How can there be any relation between what is existent and what is not existent ? There can be no distinction between the immediate precedent and the remote precedent when both are equally non-existent at the time of the production of the effect. The determinant of causality is the concomitance in presence and absence of

1 *Cf.* syādvādi-sammataḥ sthirākāraḥ paramārtha eva, citrajñānasyaikasya yugapad anekākāra-vyāpitvavat krameṇāpyekasyātmāder anekākāra-vyāpitva-siddheḥ.—*SŚP*, p. 26.

2 pūrvottara-kṣaṇānāṃ sarvathā niranvayatve arthakriyā-virodhāt.—*SŚP*, p. 26.

the effect with the cause. But in the Buddhist theory the effect does not happen when the cause is in existence, and it happens only when the supposed cause is non-existent. How can there be concomitance ? How can again the Buddhist explain that the effect should happen in immediately succeeding moment and not in remote future or past when the cause has no existence at the time of the effect's occurrence ? There can be no difference, as we have said, between a remote past and an immediate past, because the absence of the cause is uniform in both cases. The question comes to be 'How can the non-existent be the cause of the existent ?' One might equally affirm that an eternally existent might produce an occasional effect. If it is urged that there is no concomitance between an eternally existent fact and an occasional event, because the existence of the effect is not concomitant with that of the cause, and the cause is present when the effect ceases to be. But this is also the case with the Buddhist when he affirms that the effect comes into being during the absence of the cause at a particular time and place, but not during the whole period of its absence in the uncounted past and in unending future. And this amounts to the denial of the law of causality which was the corner-stone of the Buddha's religious and philosophical edifice. Not only this, the self-contradiction obtrudes itself most unabashedly when the Buddhist fluxist makes causal efficiency the criterion of reality and ends in the conclusion that the effect is independent of the cause, which is deducible from the proposition that the effect comes into being when the cause is absent. Thus causality is as inexplicable in the theory of flux as it is in the theory of eternally unchanging cause.

There is another serious difficulty in the doctrine of flux. It is a matter of universal experience that the continuous identity of the self as well as of objects is felt by all. This felt identity is asserted to be illusion by the fluxist. But what is the basis of this illusion ? Illusion presupposes a previous cognition of the object. A man who has never experienced silver cannot mistake the shell for silver. Identity is inseparable from continuity. But as there is not real continuity anywhere according to the Buddhist, how can there be such illusion of identity possible ? The supposed continuity is said to be formed by discrete moments which come into being and pass out of existence. So there is no real continuity anywhere. It is affirmed by the Buddhist himself that the discrete moments when not felt as distinct create the illusion of identity. We have shown that this illusion is impossible. But even admitting for the sake of argument that such an illusion may be possible, the question arises 'How can one continuum be distinguished from another continuum ?' Now it is a felt fact that the chair is different from the table. It is not the

discrete momentary chair that is different from the table. But we feel that the table which appears to continue is different from the chair-continuum. There is no difference between the chair and the table so far as the appearance of continuum due to the non-cognition of the difference of the units is concerned. A question arises 'How can one continuum be felt as distinct from another continuum ?' Each member of chair-series is distinct from its other members in the same way as the members of the table-series are from those of the chair-series. Yet the chair-series is felt as distinct from the table-series. What is the reason of this ? If the unbroken continuity of the emergence of the table-moments be the reason of its distinction from the chair, the same unbroken continuity is found in all the series. It is difficult to understand, firstly, how absolutely distinct entities give rise to the appearance of identity; secondly, how one series can be distinguished from another series when the same absolute difference is found to obtain between them as is found between the members of a particular series. If similarity be held to be an additional reason for this appearance of identity and continuity, then why should not the two table-series, closely similar, be not felt as identical ? There is similarity and also unbroken succession between the different units. You may say that one table is felt as distinct from another table and so their is no confusion between them. But the appeal to perception is useless because what is perceived is always the moment and not the series which is an unreal intellectual construction. So again the appeal to recognition cannot be of help, because in the Buddhist theory of flux nothing continues, and there is no identity between the past and the present, which is to be known by recognition. What is felt is always the moment, absolutely distinct and discrete from another moment. So no question of identity of one moment with another moment arises. In fact a plurality of units without a binding nexus can never account for the unity felt in an entity. If an abiding unity is posited to connect and combine the different units, then recognition and also causality can be explained. This is the position of the Jaina philosopher who asserts that a reality is a permanent unity which runs through the changing moments that appear in it. The criterion of reality is thus continuity and change, that is to say, the flux and influx of states.

6 The Sāṃkhya Evolutionism

The Sāṃkhya philosophy admits dualism of prakṛti and puruṣa. Prakṛti is the material cause of the universe, and puruṣa is the immutable and unchanging principle of consciousness. Prakṛti is one but puruṣas are infinite in number. Both are ubiquitous. The prakṛti evolves in a definite order and the evolutes are twenty-three in number. The evolution starts with the unbalancing of the equilibrium of the three constituents of prakṛti, viz, sattva (principle of buoyancy and illumination), rajas (energy) and tamas (inertia). The first evolute is mahat or buddhi (intellection) which is followed by ahaṃkāra (ego or selfhood) as the second. From the ahaṃkāra are evolved the following sixteen—the five tanmātras (fine elements), the five organs of cognition, the five organs of action and the mind. From the five fine elements again the five gross elements arise. These twenty-three evolutes together with prakṛti and the puruṣa make up twenty-five principles. If the class of emancipated puruṣas is added, the number comes to twenty-six. And Maheśvara is the twenty-seventh according to the Sāṃkhya school which accepts God.

Liberation, according to this school, consists in the reinstatement of the puruṣa in its own nature, which is attained by means of the discriminative knowledge of puruṣa and prakṛti. It is likened to the state of dreamless sleep.

The Jaina philosopher has raised objections against the Sāṃkhya concept of prakṛti and its evolution. Prakṛti is eternal, ubiquitous and partless. Being partless, it should exist in its entirety everywhere and that would mean the existence of everything everywhere. But this is opposed to experience. We perceive different objects in different places and times, and not everything everywhere at all times.[1] But the opponent might contend that though it is admitted that everything exists everywhere, it is the presence or absence of manifestation I, which determines the perceptibility or otherwise of the object. But then what is this manifestation ? If it stands for the cognition of the previously uncognized object, you have to state whether the manifestation is eternal or occasional. If manifestation is occasional, it must be admitted to be freshly produced. And consequently what is the harm if the objects are also admitted as freshly produced. If, on the other hand, the manifestation is eternal, the original contingency of the perception of everything everywhere would revive.

Moreover, what is the relation between the prakṛti and its evolutes ? Are the evolutes the products of the prakṛti or only the transformations of it ? If the evolutes are the products, they must be either pre-existent or pre-non-existent. But the production of pre-existent products is futile, and the production of the pre-non-existent products is impossible according to the Sāṃkhya philosopher. An absolutely non-existent object cannot be produced. If, on the other hand, the evolutes are considered to be the transformations of the prakṛti, they are

1 na hi pratyakṣeṇa sarvaṃ sarvatra dṛśyate. —*SSP*, p. 31.

either absolutely different from the latter or absolutely identical with it. In the latter case, the successive production of the evolutes would be impossible, because there is no corresponding succession in the prakṛti. And in the former case, it would be illogical to regard them as evolved from the prakṛti, there being absolute cleavage between the two.

Now if the Sāṃkhya philosopher admits the transformation to be neither different nor identical, and asserts that the prakṛti transforms itself as mahat and the like, much like the straight or circular shapes assumed by a reptile, he would be abandoning his doctrine of absolutely eternal prakṛti.[1] This would be tantamount to the admission of the doctrine of non-absolutism sponsored by the Jaina philosopher.

The Sāṃkhya doctrine of unchanging puruṣa also does not commend itself to the Jaina. The puruṣa should be conceived as permanent-cum-changing. We have already discussed the point in connection with our exposition of the doctrine of fluxism.

7. The Vaiśeṣika Categories and Theism

The Vaiśeṣika school postulates six categories, viz, dravya (substance), guṇa (quality), karman (activity), sāmānya (universal), viśeṣa (particularity) and samavāya (inherence), and asserts that the discriminative comprehension of these categories of truth is the condition of liberation. The soul has the nine specific qualities of buddhi (knowledge), sukha (pleasure), duḥkha (pain), icchā (desire), dveṣa (aversion), prayatna (effort), dharma (merit), adharma (demerit) and saṃskāra (predispositions). On the absolute dissociation of these qualities, the soul attains liberation and regains its natural state of freedom from contamination with these specific qualities. The school believes in the plurality of souls which are ubiquitous.

The Jaina philosopher observes that the Vaiśeṣika postulation of absolute difference between the parts (avayava) and the whole (avayavin), qualities and their substratum, action and the active, universal and the individual, is opposed to experience. We do not perceive the two terms as absolutely different from one another, though of course distinction is not denied. They must be admitted

1 atha na bhinno nāpyabhinnaḥ pariṇāmaḥ kevalaṃ mahadādirūpeṇa pradhānaṃ pariṇamati daṇḍakuṇḍalādyākāraiḥ sarpavad iti cet, tadetat sveṣṭanityaikānta-bādhakam.—SŚP, p. 32.

as somehow identical and different both. The postulation of the relation of samavāya between the two would not solve the problem. It would rather add another category equally unamenable to perception. Moreover, the relation of samavāya is accepted as eternal, ubiquitous and unitary, whereas the terms related by it are transitory and limited in extension, and different in different contexts. Again, the samavāya itself would require another samavāya to relate itself with the terms, and this would lead to infinite regress leaving the terms unrelated. Nor would the quality of conjunction (saṃyoga) serve the purpose. Conjunction, being admitted as quality by the Vaiśeṣika, can reside exclusively in a substance, and not in samavāya which is not a substance. The substantive-adjective relation is also not helpful. Such relation is possible only when the terms are already related by another relation. For instance, the stick can function as an adjective if the relation of conjunction between the person and the stick held by him is known beforehand. The Vaiśeṣika might contend that the samavāya relates itself to the term by itself independently of any other relation. Samavāya is itself a relation and therefore does not need another relation for its relation with the term. But the contention is not tenable. Even as the conjunction (saṃyoga) and such other qualities require a relation for their residence in the substance, so the samavāya must also be admitted to be in need of another relation for its residence in the terms. It cannot be accepted as self-related. The Vaiśeṣika might argue: "Self-relatedness is the intrinsic nature of samavāya, even as hotness is of fire. There is no justification for comparing the nature of conjunction (saṃyoga) with that of samavāya Fire is hot and water is cold. It is a question of fact. One should not ask : Why fire is not cold and water is not hot ?" But the Jaina philosopher does not find any substance in the argument. Had the self-relatedness of samavāya been established by perception, the Vaiśeṣika could appeal to the nature of things. But it is a question of logic which can be decided only by appeal to reason. The case of conjunction was cited only for the sake of argument against the postulation of samavāya as an independent category and not as a proof against such postulation. In fact, Praśastapāda proves samavāya by inference.[1]

Vidyānanda has adduced a number of cogent arguments against samavāya and the reader will find many interesting points in it. With the refutation of samavāya the quality of saṃyoga (conjunction) is also refuted. The postulation of absolute difference is the besetting sin. Some sort of identity between the terms

1 *Vide* SŚP, p. 36, § 14.

must be admitted in order to make their relation understandable. Otherwise atoms would never combine and our perception of unity by the side of difference would remain unaccounted for.

Another important point of difference between the Vaiśeṣika and the Jaina is the question of personal God. In the Nyāya-Vaiśeṣika school, particularly in its later development, the existence of Personal God is advocated. He is not the material cause of the world. He is only the efficient cause. The body, the sense-organs, the world, etc. are known to have a definite origin in time. Who has created them ? It can be inferred that they were brought into being by an intelligent person with the help of the material atoms just as the articles of daily use are manufactured by persons vested with knowledge and skill. Such intelligent person is God.

But the Jaina advances the counter-argument : "God is not the creator of body, etc., because he is devoid of bodily organism. Whoever is devoid of bodily organism is not the creator, for instance, the emancipated self. God is devoid of bodily organism. And therefore He is not the creator." The Vaiśeṣika denies bodily organism to God. Granted that God has bodily organism. But eternal God must have an eternal body. Now as the bodily organism is a composite entity, it must *ex hypothesi* be a product created by an intelligent being, and this would prove it to be non-eternal. If in order to avoid the contingency, the body is admitted to be created without any intelligent creator, this would contradict the doctrine that all products must have an intelligent creator.[1] Now if the Vaiśeṣika admits God as devoid of bodily organism, the activity of creation would be impossible of explanation. And if he accepted the possibility of creative activity of a person devoid of bodily organism, it would be simpler hypothesis to admit the karman, though unconscious, as capable of doing the function. Possession of both 'intelligence' and 'bodily organism' are necessary for the creation of an object, as illustrated by the instance of the potter. Now God, though possessed of intelligence, is devoid of bodily organism and so does not satisfy the full condition of creation. Karman, though unconscious, makes up a composite material-body according to the Jaina, and so it is on a par with God in this respect. Karman therefore is as much the satisfactory condition of creation as God of the Vaiśeṣika philosopher. The Vaiśeṣika might contend that the essential condition of creation is the presence of intelligence, desire and effort. The karman of the Jaina does not satisfy these conditions and therefore creation cannot be set down to it. But the Jaina submits

1 nityasyāpi taccharīrasya buddhimat-kāraṇāpūrvakattve tenaiva kāryatvādihetūnāṃ vyabhicārāt.—*SSP*, p. 39.

that God also, being devoid of bodily organism, is incapable of knowing, willing and effort, and hence of performing the function of creation. The Vaiśeṣika's postulation of intelligence, desire and effort in bodiless God goes against his doctrine of the disembodied emancipated soul as free from the specific qualities of knowledge, pleasure, pain and the like.

The Vaiśeṣika believes in God as the dispenser of justice in accordance with the merits and demerits acquired by the person. In other words, God grants the fruits of our own karman. The Jaina thinks karman as the sole and sufficient condition capable of producing the results of good and bad moral acts.

8. The Nyāya Salvation

The Naiyāyikas are in essential agreement with the Vaiśeṣikas on all important philosophical issues, and so Vidyānanda refrains from giving any elaborate exposition of their philosophy. He however refers to their conception of mukti which is of four types, viz, sālokya, sārūpya, sāmīpya and sāyujya. The first is attained by bhakti-yoga which consists in lifelong devotedness and dedication to Maheśvara the Supreme Deity, as His servant. The second and third are attained by means of kriyā-yoga in the form of spiritual penance and scriptural study and the fourth by jñāna-yoga, that is, meditation on God by means of the eight factors of yogic discipline, viz, yama, niyama, etc.

9. The Mīmāṃsā Realism

The Bhāṭṭa Mīmāṃsaka admits eleven categories of reals, viz, earth, water, fire, air, space (dik), time, ākāṣa, soul, mind, sound (śabda) and darkness (tamas). Guṇa (quality), karman (activity), etc. which reside in the reals are identical with the latter. The Prābhākara Mīmāṃsaka adopts a different scheme and posits the following nine— dravya (substance), guṇa (quality), kriyā (action), jāti (universal), saṃkhyā (number), sādṛśya (similarity), śakti (potency), samavāya (inherence) and krama (order), instead of the following five of the Bhāṭṭa school— substance, quality, action, universal and non-existence.

Two ends of human life are recognized, viz, heaven and salvation. The duties are fourfold— nitya (compulsory), naimittika (to be performed on particular occasions), kāmya (prescribed to serve specific ends) and niṣiddha (forbidden). The Mīmāṃsakas do not admit renunciation as the essential conditon of salvation. One can attain salvation even by following the life of a righteous householder earning his livelihood by honest means, devoted to self-enlightenment, hos-

pitable to guests, performing oblation and truthful.[1] The candidate for salvation should not perform the kāmya and niṣiddha duties. He should however do the other two types of duties in order to get rid of the obstacles that might obstruct his spiritual progress. The Prābhākara Mīmāṃsakas include these two also under the kāmya duties and do not prescribe them for the aspirant to salvation.

Vidyānanda selects the Mīmāṃsaka concept of universal for refutation at great length. But as we have already elaborated the Jaina concept of universal, we do not propose to discuss them in the present context.

●

Abbreviations

ĀM = Āptamīmāṃsā [see Aṣṭasahasrī].
Āptamīmāṃsa [see Aṣṭasahasrī].
Aṣṭasahasrī, with Āptamīmāṃsā and Aṣṭaśatī, Gandhi Natharangji Jaina Granthamālā, Bombay, 1915.
Aṣṭaśatī [see Aṣṭasahasrī].
Hetubinduṭīkā, Gaekwad Oriental Series, No. CXIII.
Nyāyāvatāra, published by S. J. Mahāsabhā, Bombay, V. S. 1985.
PKM = Prameyakamalamārtaṇḍa, Bombay, 1941.
Pramāṇavārttikabhāṣya, published by K. P. Jayaswal Research Institute, Patna, 1953.
Pramāṇavārttikaṭīkā, published by Kitab Mahal, Allahabad, 1943.
Sanmatitarkarprakaraṇa = Sanmatitarka with English translation, Bombay, 1939.
SŚP = Satyaśāsana-parīkṣā, the edition under review.
Viśeṣāvaśyakabhāṣya, Yaśovijaya Jaina Granthamālā, No.35.

1 nyāyārjita-dhanas tattvajñānaniṣṭho'tithipriyaḥ;
śrāddhakṛt satyavādi ca gṛhasthopi vimucyate.—*Quoted in* SŚP, p, 44.

विषय-सूची

प्रस्तावना १–३४
१. सम्पादन परिचय १–३
२. ग्रन्थ परिचय ३–६
ग्रन्थ-नाम ३
विषय-वस्तु ४
विषय-विभाग ४
अद्वैतवादी दर्शन ४
द्वैतवादी दर्शन ५
भाषा और शैली ५
३. ग्रन्थसार ६–१६
परमब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षा ६
शब्दाद्वैतशासन-परीक्षा ८
विज्ञानाद्वैतशासन-परीक्षा ८
चित्राद्वैतशासन-परीक्षा ९
चार्वाकशासन-परीक्षा ९
बौद्धशासन-परीक्षा ११
सांख्यशासन-परीक्षा १३
वैशेषिकशासन-परीक्षा १४
नैयायिकशासन-परीक्षा १५
मीमांसकशासन-परीक्षा १५
४. सत्यशासन-परीक्षाकी अन्य ग्रन्थोंसे तुलना १६–२८
जैन ग्रन्थ
तत्त्वार्थसूत्र और सत्यशासन-परीक्षा १६
आप्तमीमांसा और सत्यशासन-परीक्षा १७
युक्त्यनुशासन और सत्यशासन-परीक्षा १८
न्यायविनिश्चय और सत्यशासन-परीक्षा १९
लघीयस्त्रय और सत्यशासन-परीक्षा २०
सिद्धिविनिश्चय और सत्यशासन-परीक्षा २०
यशस्तिलक और सत्यशासन-परीक्षा २१
जैनेतर ग्रन्थ
छान्दोग्योपनिषद् और सत्यशासन-परीक्षा २२
मैत्र्युपनिषद् और सत्यशासन-परीक्षा २२
बृहदारण्यक और सत्यशासन-परीक्षा २३
अमृतबिन्दु उपनिषद् और सत्यशासन-परीक्षा २३

महाभारत और सत्यशासन-परीक्षा २३
भगवद्गीता और सत्यशासन-परीक्षा २३
ब्रह्मसूत्र और सत्यशासन-परीक्षा २३
सांख्यकारिका और सत्यशासन-परीक्षा २४
न्यायसूत्र और सत्यशासन-परीक्षा २४
सौन्दरनन्द और सत्यशासन-परीक्षा २५
प्रशस्तपादभाष्य और सत्यशासन-परीक्षा २५
शृंगारशतक और सत्यशासन-परीक्षा २५
मीमांसाश्लोकवार्तिक और सत्यशासन-परीक्षा २६
प्रमाणवार्तिक और सत्यशासन-परीक्षा २६
न्यायबिन्दु और सत्यशासन-परीक्षा २७
हेतुबिन्दुटीका और सत्यशासन-परीक्षा २७
प्रमाणवार्तिकालंकार और सत्यशासन-परीक्षा २७
तत्त्वसंग्रह और सत्यशासन-परीक्षा २८
ब्रह्मसिद्धि और सत्यशासन-परीक्षा २८
सम्बन्धवार्तिक और सत्यशासन-परीक्षा २८

५. ग्रन्थकार-परिचय २८-३४
विद्यानन्दि और उनका युग २८
विद्यानन्दिका समय २९
विद्यानन्दिकी रचनाएँ ३२
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ३२
अष्टसहस्री या देवागमालङ्कार ३२
युक्त्यनुशासनालङ्कार ३२
विद्यानन्दि महोदय ३३
आप्त-परीक्षा ३३
प्रमाण-परीक्षा ३३
पत्र-परीक्षा ३४
सत्यशासन-परीक्षा ३४
श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र ३४

६. विद्यानन्दिके समग्र अध्ययनकी आवश्यकता ३४

मूलग्रन्थ १-४७
मंगलाचरण और ग्रन्थ-प्रतिज्ञा १
पुरुषाद्वैत आदि चौदह शासन १

परब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षा १-१०
[पूर्वपक्ष] ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है २
एक ही ब्रह्म अनेक जड़-चेतनमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे दिखायी देता है २
विवर्तवाद २
ब्रह्मसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति २

अविद्या २
मायावाद २
अविद्या निवृत्ति ही मोक्ष है २
मोक्षके साधन—श्रवण, मनन और ध्यान २
साधनचतुष्टय २
ब्रह्म-साक्षात्कार ३
[उत्तरपक्ष] ब्रह्माद्वैतका प्रत्यक्ष विरोध ३
स्वप्नसंवेदन प्रत्यक्ष ३
ऐन्द्रजालिक प्रत्यक्ष ३
भ्रान्त प्रत्यक्ष ३
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ३
निषेध भी प्रत्यक्षका विषय है ४
साध्य और हेतुका द्वैत ५
आगम और ब्रह्मका द्वैत ५
स्वसंवेदन और ब्रह्मका द्वैत ६
ब्रह्माद्वैतको स्वतः सिद्ध माननेमें दोष ६
ब्रह्माद्वैतका अनुमानसे विरोध ६
क्रिया-कारक भेद भ्रान्त नहीं ६
बाध्य-बाधकका द्वैत ६
द्वैतके बिना अद्वैतकी सिद्धि असम्भव ७
ब्रह्माद्वैतवादमें पुण्य-पाप, स्वर्ग-मोक्ष आदिकी व्यवस्था असम्भव ७
प्रमाण और प्रमेयका द्वैत ७
अविद्याकी कल्पनामें अनेक दोष ८

शब्दाद्वैतशासन-परीक्षा १०
पुरुषाद्वैतकी तरह शब्दाद्वैत भी अयुक्त १०

विज्ञानाद्वैतशासन-परीक्षा ११-१४
[पूर्वपक्ष] बाह्य अर्थके अभावकी सिद्धि ११
सौत्रान्तिकसम्मत तज्जन्य, ताद्रूप्य, तदध्यवसाय ११
यौगसम्मत कार्यनिमित्तकारणत्व ११
ग्राह्य-ग्राहकज्ञानकी भ्रान्तता ११
संवित्ति-द्वारा समस्त वेद्य-वेदक व्यवहार ११
अनुभव-द्वारा विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि १२
[उत्तरपक्ष] विज्ञानाद्वैत प्रत्यक्ष-विरुद्ध है १२
बाह्य अर्थ भ्रान्त नहीं है १२
यौगसम्मत विज्ञानकी परिभाषामें दोष १२
स्वसंवेदन-द्वारा विज्ञानाद्वैतकी सिद्धिमें दोष १२
अनुमानसे विज्ञानका वेद्य-वेदक भाव माननेमें दोष १२
वासनाभेद माननेमें दोष १२

द्विचन्द्र आदि हेतु असिद्ध और विरुद्ध हैं १३
अभ्रान्त प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थकी सिद्धि १३
विज्ञानाद्वैत इष्ट-विरुद्ध है १३
अनुमान-द्वारा बाह्य अर्थकी सिद्धि १३
साधन-दूषण प्रयोगहेतु-द्वारा विज्ञानाद्वैत-खण्डन १४
चित्राद्वैतशासन-परीक्षा १४
चित्राद्वैतशासनमें भी बाह्य अर्थका अपह्नव १४
विज्ञानाद्वैतकी तरह चित्राद्वैत भी प्रत्यक्ष तथा अनुमान-विरुद्ध १४
चार्वाक शासन-परीक्षा १५-१९
[पूर्वपक्ष] सर्वज्ञका अभाव १५
आगम और अनुमानका अभाव १५
बृहस्पति प्रतिपादित चार भूत १५
चार भूतोंके योगसे चैतन्यकी उत्पत्ति १५
मरणके उपरान्त और जन्मसे पूर्व आत्माका अभाव १५
परलोकका अभाव १५
जीवनका उद्देश्य १५
[उत्तरपक्ष] चार्वाक मत प्रत्यक्ष-विरुद्ध १६
प्रत्यक्षसे पृथ्वी आदिके उपादानोपादेयभावकी प्रतीति १६
स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जीवकी सिद्धि १६
भोक्तृत्व जीवका असाधारण धर्म है १६
अचेतन शरीर भोक्ता नहीं १६
आत्मा अनादि-अनन्त तथा पृथिव्यादिसे सर्वथा विलक्षण है १७
चार्वाकशासन इष्ट-विरुद्ध भी है १७
प्रतिषेध-द्वारा जीवसिद्धि १७
गौण कल्पना-द्वारा जीवसिद्धि १७
शुद्ध पदकी अपेक्षा जीवसिद्धि १७
शिष्टसम्मति तथा आगमोक्ति-द्वारा जीवसिद्धि १७
भूत और चैतन्य दोनों भिन्न प्रमाणग्राही हैं १८
प्रत्यभिज्ञान और पूर्वानुभवकी सिद्धि १८
पुण्य-पाप और परलोककी सिद्धि १८
सर्वज्ञसिद्धि १८
प्रत्यक्ष-द्वारा सर्वज्ञ निषेध असम्भव १८
अनुमान-द्वारा सर्वज्ञ निषेध असम्भव १९
बाधकके अभावमें सर्वज्ञकी सिद्धि १९
बौद्धशासन-परीक्षा २०-२९
[पूर्वपक्ष] रूप आदि पञ्च स्कन्ध २०
सविकल्पकज्ञान २०
निर्विकल्पकज्ञान २०

सन्तान अर्थात् चित्तसन्तति २०
चित्तसन्तति ही आत्मा २०
सन्तानोच्छित्ति मोक्ष २०
मोक्षका स्वरूप २०
मोक्षके उपाय २०
चार आर्यसत्य—दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध, दुःख-निवृत्ति २०-२१
अष्टाङ्गिक मार्ग २१
[उत्तरपक्ष] बौद्धमत प्रत्यक्ष-विरुद्ध है २१
निरन्वय, विनाशशील परमाणुका प्रत्यक्ष नहीं होता २१
आसन्न और संसृष्ट परमाणुओंमें स्थिर, स्थूल आदिका ज्ञान नहीं २२
बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण नहीं बनेगा २२
निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे परमाणु प्रत्यक्ष नहीं २२
परमाणु प्रत्यक्षका विस्तृत खण्डन २३
सांख्यशासन-परीक्षा ३०-३३
[पूर्वपक्ष] संसार प्रधानमय है ३०
प्रधानका स्वरूप ३०
सत्त्व, रज और तमोगुण ३०
संसारकी उत्पत्तिका क्रम ३०
प्रकृति, प्रधान, बहुधानक आदि नाम ३०
महान्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, ३०
पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ ३०
निरीश्वर सांख्योंकी मान्यता ३०
सेश्वरसांख्योंकी मान्यता ३०
पुरुषका स्वरूप ३०
प्रकृति और पुरुषका भेद-विज्ञान ३१
मोक्षका स्वरूप और उसके उपाय ३१
[उत्तरपक्ष] सांख्यशासन प्रत्यक्ष-विरुद्ध है ३१
सम्पूर्ण जगत् प्रधानमय नहीं हो सकता ३१
'सर्वं सर्वत्र वर्तते' यह प्रत्यक्ष-विरुद्ध है ३१
आविर्भाव माननेमें अनेक दोष ३१
तिरोभाव माननेमें दोष ३१
सांख्य-सम्मत सृष्टिप्रक्रियामें दोष ३२
महदादिको प्रधानका कार्य माननेमें दोष ३१
सत्कार्यवादका खण्डन ३२
असत्कार्यवाद माननेमें दोष ३२
महदादिको प्रधानका परिणाम माननेमें दोष ३२
प्रधान परिणामोंका उपकारक नहीं है ३२
महदादिको प्रधानसे भिन्नाभिन्न माननेमें दोष ३२

प्रधान आदि चौबीस तत्त्वोंका खण्डन ३२
भोग्यके अभावमें भोक्ताका अभाव ३२
सांख्यशासन इष्ट-विरुद्ध भी है ३३
पुरुषको कूटस्थ नित्य माननेमें अनुमान-विरोध ३३
भोग अनित्य हैं, क्योंकि उत्पत्तिमान् हैं ३३
भोगोंकी अनित्यतासे पुरुषकी अनित्यता ३३
वर्णाश्रमधर्म आदिका प्रतिपादक सांख्यागम भी प्रमाण नहीं ३३
दृष्टेष्ट विरुद्ध होनेसे सांख्यागम प्रमाण नहीं ३३
वैशेषिकशासन-परीक्षा
[पूर्वपक्ष] बुद्धि आदि नव गुण ३४
गुणोंकी अत्यन्त समाप्ति मोक्ष ३४
द्रव्यादि पदार्थका साधर्म्य-वैधर्म्यरूप तत्त्वज्ञान मोक्षका कारण ३४
पृथ्वी आदि नव द्रव्य ३४
रूप, रस आदि चौबीस गुण ३४
उत्क्षेपणा आदि पाँच कर्म ३४
सामान्यके भेद पर और अपर सामान्य ३४
मोक्षप्राप्तिकी प्रक्रिया ३४
पूर्वोपार्जित कर्मोंको भोगनेके विषयमें दो मत ३५
इक्कीस प्रकारके दुख ३५
[उत्तरपक्ष] वैशेषिकशासन प्रत्यक्ष-विरुद्ध है ३५
अवयव-अवयवी आदिके भेदैकान्तका खण्डन ३५
अवयव-अवयवी आदि कथंचित् भिन्न हैं ३५
अवयव-अवयवीका समवाय माननेमें दोष ३६
वैशेषिकाभिमत समवायका खण्डन ३६
समवाय समवायीके आश्रित है या नहीं ३६
परमार्थतः समवाय समवायीके आश्रित नहीं हो सकता ३६
समवाय और समवायीका कौन-सा सम्बन्ध है ३६
समवायका स्वतः सम्बन्ध माननेमें दोष ३६
प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थमें प्रश्न अनुचित ३६
समवायको स्वपरके सम्बन्धका कारण माननेमें दोष ३७
समवायका नाना उपपत्तियों-द्वारा खण्डन ३७
समवायके अभावमें संयोगका अभाव ३८
सम्बन्धोंके अभावमें सर्व वस्तुओंका अभाव ३८
संयोगके अभावमें सर्व द्रव्योंका अभाव ३९
प्रत्यक्ष विरोधका उपसंहार ३९
वैशेषिकशासन इष्ट-विरुद्ध भी है ३९
ईश्वरकर्तृत्व अनुमान तथा आगम-विरुद्ध है ३९
ईश्वरको संसारका कर्ता माननेमें अनेक दोष ४०
अशरीरी ईश्वर तन्वादिका कर्ता नहीं हो सकता ४०

पृथिव्यादिको बुद्धिमद्धेतुक माननेमें दोष ४०
ईश्वरको कर्ता मान भी लें तो वह विचित्र घोर दुःख क्यों देता है ४०
यदि दुःखमें प्राणियोंके पाप कारण हैं तो तनुकरणादिमें भी ईश्वरको कारण माननेकी आवश्यकता नहीं ४०
अचेतन कर्म मदिरा आदिकी तरह तनुकरणादि उत्पन्न करनेमें कारण हैं ४१
तनुकरणादि एक बुद्धिमद्धेतुक हैं या अनेक ४१
बुद्धिमद्धेतुमें सिद्ध-साधन और अनैकान्तिक दोष ४१
अधिकरण सिद्धान्तन्याय भी ठीक नहीं ४१
अनेक दोषयुक्त होनेसे वैशेषिकशासन इष्ट-विरुद्ध ४१
नैयायिकशासन-परीक्षा
[पूर्वपक्ष] प्रमाण-प्रमेय-आदि तत्त्वोंके ज्ञानसे मोक्ष ४२
भक्तियोग आदि योगत्रय ४२
सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य मुक्ति ४२
यम, नियम आदि योगके आठ अंग ४२
[उत्तरपक्ष] नैयायिक मत प्रत्यक्ष-विरुद्ध है ४२
वैशेषिकशासनकी तरह इसमें भी अनेक दोष ४२
नैयायिक सम्मत षोडशपदार्थव्यवस्था संभव नहीं ४२
यौग आगम भी प्रमाण नहीं ४३
नैयायिक-वैशेषिक सम्मत सब दृष्टेष्ट-विरुद्ध ४३
मीमांसक-भाट्टप्राभाकरशासन-परीक्षा
[पूर्वपक्ष] भाट्टोंके अनुसार पृथिव्यादि ग्यारह पदार्थ हैं ४४
गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नहीं ४४
प्राभाकरोंके अनुसार पृथिव्यादि नव पदार्थ ४४
पदार्थोंके याथात्म्य ज्ञानसे मोक्ष ४४
नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध अनुष्ठान ४४
स्वर्ग और अपवर्गके साधन ४४
मुमुक्षुको प्रव्रजित होना आवश्यक नहीं ४४
भाट्टोंके अनुसार मोक्षार्थीको काम्य और निषिद्ध अनुष्ठान वर्जित ४५
[उत्तरपक्ष] मीमांसक मत प्रत्यक्ष-विरुद्ध ४५
नित्य, निरन्वय, व्यापक सत्ता सामान्य प्रत्यक्ष-विरुद्ध ४५
सत्ता सामान्य माननेमें अनेक दोष ४५
सामान्य और व्यक्तिका तादात्म्य माननेमें दोष ४५
सामान्यकी सिद्धिमें दिये गये हेतु दोषपूर्ण ४६
सत्ता सामान्यका विस्तारसे खण्डन ४७

संकेत-सूची

अमृतबि० उप०	अमृतबिन्दु उपनिषद्
आप्तमी०	आप्तमीमांसा
चार्वाक०	चार्वाकशासन-परीक्षा
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रह
नैया०	नैयायिकशासन-परीक्षा
न्यायबि०	न्यायबिन्दु
न्यायविनि०	न्यायविनिश्चय
न्यायसू०	न्यायसूत्र
परमब्रह्म०	परमब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षा
प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक
प्रमाणवार्तिकालं०	प्रमाणवार्तिकालंकार
प्रश० भा०	प्रशस्तपादभाष्य
ब्रह्मसू०	ब्रह्मसूत्र
बौद्ध०	बौद्धशासन-परीक्षा
भगवद्गी०	भगवद्गीता
मी० श्लो०	मीमांसाश्लोकवार्तिक
मैत्रा०	मैत्रायण्युपनिषद्
यश० उत्त०	यशस्तिलक उत्तरार्ध
युक्त्यनु०	युक्त्यनुशासन
लघी०	लघीयस्त्रय
विज्ञान०	विज्ञानाद्वैतशासन-परीक्षा
वैशे०	वैशेषिकशासन-परीक्षा
बृहदा०	बृहदारण्यक
श्लो०	श्लोक
श्रृङ्गार०	श्रृङ्गारशतक
सत्य०	सत्यशासन-परीक्षा
संबन्ध०	संबन्धवार्तिक
सांख्यका०	सांख्यकारिका
सांख्य०	सांख्यशासन-परीक्षा
सिद्धिवि०	सिद्धिविनिश्चय
सौन्दर०	सौन्दरनन्द महाकाव्य
हेतुबि० टी०	हेतुबिन्दुटीका

प्रस्तावना

[१] सम्पादन परिचय

[अ] प्रति परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थके मूल पाठकी शुद्धिमें निम्नलिखित तीन हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है—

'क'—यह श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) की प्रति है। वहाँ इसकी ग्रन्थसंख्या १०७ है। इसमें १३ × ६ इंच साइजके कुल २९ पत्र हैं। एक पत्रमें एक ओर १२ पंक्तियाँ तथा एक पंक्तिमें करीब ५० अक्षर हैं। लिपि देवनागरी है। लिखावट साफ किन्तु अशुद्ध है। ग्रन्थ उत्तम दशामें है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार है—

"ॐ नमः सिद्धेभ्यः।
विद्यानन्दाधिपः स्वामी विद्वद्देवो जिनेश्वरः।
यो लोकैकहितस्तस्मै नमस्तात् स्वात्मलब्धये॥
अथ सत्यशासन-परीक्षा।"

अन्त इस प्रकार है—

"नहि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकम्, यथा स्थूलादिषु वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपद्-भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य सिद्धयेत्, स्वाधान्तरालेऽस्तित्वं साधयेदिति तदेवमनेकबाधक-सद्भावाद् भाट्टप्राभाकरैरिष्ट······भद्रं भूयात्।"

प्रतिके आरम्भ अथवा अन्तमें कहीं भी लिपिकार या लिपिकालका संकेत नहीं है।

सर्वप्रथम मैंने इसी प्रतिसे प्रेसकापी की थी; इसलिए इसका संकेत चिह्न **'क'** रखा है। अशुद्ध होनेके कारण इसे पूर्ण रूपसे मूल प्रति न माननेपर भी सम्पादनका प्रथम आधार यही प्रति रही है।

'ख'—यह प्रति श्री जैन मठ मूडबिद्रीके शास्त्रभंडारकी ताडपत्रीय प्रति है। वहाँके शास्त्रोंमें इसकी संख्या ६५२ है। इसमें २०॥ × १॥। इंचकी साइजके १९ ताडपत्र हैं। प्रत्येक पत्रके दोनों तरफ ग्रन्थ लिखा गया है। केवल पहले पत्रके एक ओर लिखा है। प्रत्येक पत्रमें प्रायः ८-८ पंक्तियाँ हैं, कुछमें ७ पंक्तियाँ भी हैं। प्रति पंक्तिमें ९८ से १०० तक अक्षर हैं। प्रति पत्रमें दोनों किनारे हासिया (मार्जिन) है और बीच-में दो जगहपर डोरी पिरोनेके लिए छेद बने हैं। ग्रन्थ उत्तम दशामें है। इसकी लिपि कन्नड है। अक्षर साफ, सुन्दर और सुवाच्य हैं। लिपिकारने कहीं-कहीं सुन्दर बेल-बूटे भी बनाये हैं। भाषा-संबन्धी अशुद्धियाँ इसमें भी हैं। ग्रन्थका प्रारम्भ 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' के बाद पूर्वोक्त मंगलपद्यसे ही होता है। अन्त भी **'क'** प्रतिकी तरह ही है। आदि, मध्य या अन्तमें कहीं भी लिपिकारका नाम तथा लिपिकाल आदिका उल्लेख नहीं है। इस प्रतिका संकेत चिह्न **'ख'** है।

'ग'—यह प्रति भी श्री जैन मठ, मूडबिद्रीके शास्त्र भंडारकी है। वहाँ इसकी ग्रन्थसंख्या ५५२ है। इसमें १३ × २ इंच साइजके कुल ४३ पत्र हैं। प्रत्येक पत्रमें एक ओर प्रायः ७-७ पंक्तियाँ हैं। कुछमें ६-६ पंक्तियाँ भी हैं। प्रति पंक्तिमें ५० से ५२ तक अक्षर हैं। प्रत्येक पत्रमें दोनों ओर हासिया (मार्जिन) छोड़ा गया है। बीचमें डोरी पिरोनेके लिए एक छेद भी है। ग्रन्थ उत्तम दशामें है। इसकी भी लिपि कन्नड है। अक्षर साधारण सुन्दर तथा सुवाच्य हैं। प्रथम पत्र थोड़ा-सा टूट गया है, जिससे दो-तीन अक्षर भी चले गये हैं।

ग्रन्थका आरम्भ "ॐ नमः सिद्धेभ्यः, निर्विघ्नमस्तु" लिखकर पूर्वोक्त प्रकारसे ही किया गया है। इसके अन्तिम कुछ पत्र स्थानान्तरित हो गये प्रतीत होते हैं। अन्तिम ४३वाँ पृष्ठ निम्न वाक्योंके साथ समाप्त होता है—

"संसर्गहानेः सकलार्थहानिर्दुर्निवारावशेषिकाणामुपनिपतति। तदुक्तं स्वामिभिः''''''।"

भाषा-संबन्धी अशुद्धियोंके साथ इस प्रतिमें एकाध अक्षर, शब्द और कहीं-कहीं वाक्य तक छूट गये हैं। इस सबके बाद भी यह प्रति उपर्युक्त दोनों प्रतियोंकी अपेक्षा अधिक शुद्ध है। इसका संकेत-चिह्न 'ग' है।

अप्राप्त प्रति

सत्यशासन-परीक्षाकी एक प्रति बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें भी है जो मुझे प्राप्त नहीं हो सकी। यह प्रति भी आराकी प्रतिकी तरह अपूर्ण है।[1]

[आ] मूल ग्रन्थ संयोजन—

मूल ग्रन्थका सम्पादित विधान निम्न प्रकार किया गया है—

[क] शुद्ध पाठ

उपर्युक्त तीन प्रतियोंके पाठोंमें जो सबसे अधिक उपयुक्त एवं सही प्रतीत हुआ उसे मूलमें रखकर दूसरी प्रतियोंके पाठोंको संकेत-चिह्नके साथ नीचे पाठान्तरोंमें दे दिया है।

तीनों प्रतियोंसे मिलान करनेके बाद भी यदि कहीं कोई अक्षर त्रुटित प्रतीत हुआ तो उसे [ ] ऐसे कोष्ठकके अन्दर मूल पाठके साथ ही दिया गया है।

उद्धृत वाक्योंमें यदि कोई त्रुटि प्रतीत हुई तो उसके मूल स्थलको खोजकर उसके आधारपर पाठ-शुद्धि की गयी है।

इस त्रिकोणात्मक प्रयत्नसे मूल ग्रन्थको पूर्ण शुद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है।

[ख] उद्धृत वाक्योंके मूल स्थल तथा अन्य संकेत

प्रस्तुत ग्रन्थमें विभिन्न शास्त्रोंके अनेक उद्धरण आये हैं, उन सभीके मूल स्थलोंको खोजनेका प्रयत्न किया गया है। अधिकांश जो मिल गये हैं उनके मूल स्थानोंका संकेत तत्तत् ग्रन्थोंके संकेतोंके साथ उद्धृत वाक्योंके साथ [ ] ऐसे ब्रेकिटमें दे दिया है; जो नहीं मिले उनके सामने ब्रेकिट खाली छोड़ दिया है। इससे कमसे-कम इतना पता तो लग ही जायेगा कि यह उद्धृत वाक्य है।

उद्धृत वाक्योंको "....." दोहरे उद्धरण चिह्नके भीतर दिया गया है।

दूसरे संकेत अन्य सिद्धान्त व सैद्धान्तिकोंके हैं। ऐसे नामोंके नीचे——इस प्रकारकी रेखा दी गयी है।

[ग] विषय विभाग

सम्पादनके लिए जो तीन प्रतियाँ प्राप्त हुईं उनमें-से किसीमें भी ग्रन्थमें कोई वर्गीकरण नहीं है। हमने सर्व-प्रथम पूरे ग्रन्थको पुरुषाद्वैत आदि विभिन्न शासनोंके अनुसार—'पुरुषाद्वैतशासन-परीक्षा' इत्यादि नामसे वर्गीकृत किया है। तदनन्तर प्रत्येक परीक्षाको वाक्य खण्डों (पैराग्राफस्) में बाँट दिया है।

[घ] अर्थबोधक तथा तुलनात्मक टिप्पण

ग्रन्थके मूल पाठपर हिन्दीके अंकका संकेत देकर नीचे दो प्रकारके टिप्पण दिये गये हैं। इनमें कुछ अर्थबोधक हैं कुछ तुलनात्मक। अर्थबोधक टिप्पण विशेष करके सर्वनाम शब्दों तथा क्लिष्ट शब्दोंपर लिखे गये हैं। तुलनात्मक टिप्पण जो बहुत ही अल्प हैं, विद्यानन्दिके दूसरे ग्रन्थों तथा न्याय शास्त्रके अन्य जैन-जैनेतर ग्रन्थोंसे लिये गये हैं। ये टिप्पण या तो विषय-साम्यके आधारपर हैं या शब्द-साम्यके आधारपर।

१. पं. दरबारीलालजी कोठिया—आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ० ४४।

[ङ] पाठान्तर

जैसा कि ऊपर पाठ-शुद्धिमें लिखा जा चुका है—सम्पादनके लिए उपयोगमें लायी गयी तीनों प्रतियोंमें-से सर्वाधिक उपयुक्त पाठ मूलमें रखकर अन्य पाठोंको नीचे पाठान्तरोंमें दे दिया है। पाठान्तरोंके लिए अंग्रेजीके अंकोंका संकेत है।

[च] परिशिष्ट—

इस संस्करणमें निम्नलिखित परिशिष्ट जोड़े गये हैं—

१. मूल ग्रन्थके पद्योंकी अनुक्रमणिका।
२. मूल ग्रन्थमें उद्धृत वाक्योंकी अनुक्रमणिका।
३. मूल ग्रन्थगत दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द।
४. मूल तथा प्रस्तावनागत विशिष्ट शब्द।

[२] ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ मध्ययुगके महान् जैन तार्किक आचार्य विद्यानन्दिकी अपूर्व कृति है। इस संस्करणमें यह सर्वप्रथम प्रकाशमें आ रही है।

नाम

ग्रन्थके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने एक अनुष्टुप् पद्यमें मंगलाचरण किया है तथा उस मंगल पद्यमें श्लेषसे अपने नामका भी संकेत कर दिया है। मंगल पद्यके बाद ग्रन्थका नाम 'सत्यशासन-परीक्षा' दिया है।

'सत्यशासन-परीक्षा' इस नाममें तीन शब्द हैं—सत्य, शासन और परीक्षा। इन तीनों शब्दोंकी व्याख्या विद्यानन्दिने स्वयं की है। वे लिखते हैं—सत्यका अर्थ है प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदिसे बाधित न होना; शासनका अर्थ है विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय तथा परीक्षाका अर्थ है—यह धर्म इसवस्तुमें बनता है या नहीं संसारमें अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनमें कौन सत्य हो सकता है, प्रस्तुत ग्रन्थमें इसी बातकी परीक्षा की गयी है। (§ १–२) इस तरह 'सत्यशासन-परीक्षा' यह ग्रन्थका सार्थक नाम है।

देखना यह है कि विद्यानन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'सत्यशासन-परीक्षा' ही क्यों रखा, 'दर्शन-समीक्षा,' 'सत्यदर्शन-समीक्षा' अथवा ऐसा ही और कोई दूसरा नाम भी तो हो सकता था ?

वास्तविकता यह लगती है कि विद्यानन्दिके सामने ग्रन्थका नामकरण करते समय केवल ग्रन्थकी अन्वर्थताका ही प्रश्न नहीं था प्रत्युत पूर्व-परम्परा तथा नवनिर्माणका भी प्रश्न था। पूर्व-परम्परामें विद्यानन्दिके सामने परीक्षान्त नामवाले अनेक बौद्ध ग्रन्थ थे। दिग्नागकृत आलम्बनपरीक्षा व त्रिकालपरीक्षा; धर्मकीर्तिकृत संबन्धपरीक्षा; धर्मोत्तरकृत प्रमाणपरीक्षा आदि परीक्षान्त नामवाले बौद्धग्रन्थ प्रसिद्ध थे। इसके विपरीत जैनदर्शनका एक भी ग्रन्थ परीक्षान्त नामवाला नहीं था। इसलिए विद्यानन्दिके समक्ष जैनसाहित्यकी परम्परामें एक नये नामकी पूर्तिका भी प्रश्न था। इसी कारण विद्यानन्दिने एक ओर जहाँ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री तथा युक्त्यनुशासनटीका नामक भाष्य ग्रन्थ लिखे वहीं प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, आप्त-परीक्षा तथा सत्य-शासन-परीक्षा परीक्षान्त नामवाले महत्त्वपूर्ण प्रकरणोंकी रचना की। बादके कतिपय अन्य जैनाचार्योंने भी विद्यानन्दिके अनुकरणपर अन्य ग्रन्थ भी परीक्षान्त नामवाले लिखे। उदाहरणके लिए नव्यन्याय युगके महान् विद्वान् उपाध्याय यशोविजयकी अध्यात्मपरीक्षा तर्कशैलीका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ सत्यशासन-परीक्षाके नामकरणमें विद्यानन्दिने अन्वर्थता, पूर्वपरम्परा तथा नवीनताके पूर्ण सामञ्जस्यका ध्यान रखा है।

इसी प्रसंगमें विद्यानन्दिने संकेतसे 'आप्तवत्' पदके द्वारा अपने दूसरे ग्रन्थ आप्तपरीक्षाकी भी सूचना

दी है। जिस तरह आप्तके विषयमें विवाद है कि कपिल, सुगत तथा अर्हन्त आदिमें आप्त कौन है, उसी प्रकार परब्रह्माद्वैत आदि शासनोंमें सत्य कौन है, यह भी विवाद एवं परीक्षाका विषय है।

विषय

इसके अनन्तर विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षाके प्रतिपाद्य विषयका स्पष्ट निर्देश करते हुए लिखा है कि 'वर्तमानमें पुरुषाद्वैत आदि अनेक दार्शनिक मत प्रचलित हैं, किन्तु वे सभी सत्य नहीं हो सकते क्योंकि एक ओर उनमें पारस्परिक विरोध देखा जाता है और दूसरी ओर प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणोंकी कसौटीपर भी वे सत्य नहीं उतरते। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थमें सभी शासनोंको प्रमाणकी कसौटीपर कसकर यह देखा जायेगा कि कौन-सा शासन सत्य हो सकता है। (§ २)

इसी प्रसंगमें विद्यानन्दिने एक प्रश्न उठाकर उसका समाधान किया है—

प्रश्न—जब कि सभी दर्शनोंमें पारस्परिक मतभेद देखा जाता है तो सभी असत्य होना चाहिए, कोई भी सत्य नहीं हो सकता ?

उत्तर—प्रकाश और अन्धकारकी तरह एकान्त-अनेकान्त, द्वैत-अद्वैत तथा भाव-अभावके निषेधमें भी विधि है; क्योंकि जिससे जिसका निषेध किया जा रहा है उन दोनोंमें-से किसी एकका सत्य होना नितान्त आवश्यक है। एककी विधिके बिना दूसरेका निषेध नहीं बन सकता। इसलिए यह कहना युक्तियुक्त नहीं कि पारस्परिक विरोध देखे जानेके कारण कोई भी दर्शन सत्य नहीं है प्रत्युत जो शासन प्रमाणकी कसौटीपर सही उतरे वह अवश्यमेव सत्य है। (§२)

इतना कहनेके बाद विद्यानन्दिने प्रारम्भमें ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अनेकान्त शासन ही सत्य-शासन है, क्योंकि परीक्षा करनेपर वही प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित नहीं होता (§४)

इस पृष्ठभूमिके साथ सत्यशासन-परीक्षामें पुरुषाद्वैत आदि चौदह शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है। प्रत्येक शासनके पूर्वपक्षमें उसके मूल-ग्रन्थोंसे उद्धरण देकर सर्वप्रथम उस शासनके मन्तव्योंका वर्णन किया गया है, इसके बाद उत्तरपक्षमें उनकी समालोचना तथा अनेकान्त शासनको निर्दुष्ट सिद्ध किया गया है, जिसके लिए विद्यानन्दिने अपने तर्कोंके अतिरिक्त पूर्वाचार्योंके वाक्योंको भी प्रमाण रूपमें उद्धृत किया है। प्रत्येक शासनके अन्तमें विद्यानन्दिकी स्वनिर्मित दो या तीन कारिकाएँ हैं।

विषय विभाग

सत्यशासन-परीक्षामें जिन शासनोंकी समीक्षा की गयी है उनका वर्गीकरण निम्नप्रकार है—

१. पुरुषाद्वैत	८. निरीश्वर सांख्य
२. शब्दाद्वैत	९. नैयायिक
३. विज्ञानाद्वैत	१०. वैशेषिक
४. चित्राद्वैत	११. भाट्ट
५. चार्वाक	१२. प्राभाकर
६. बौद्ध	१३. तत्त्वोपप्लव
७. सेश्वर सांख्य	१४. अनेकान्त

इन चौदह शासनोंको विद्यानन्दिने दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है —१. अद्वैतवादी या अभेदवादी, २. द्वैतवादी या भेदवादी

अद्वैतवादी—अद्वैतवादी शासनोंसे प्रयोजन उन दार्शनिक संप्रदायोंसे है जो केवल किसी एक तत्त्व-को मानते हैं। चाहे वे परमब्रह्माद्वैतको माननेवाले वेदान्ती हों या विज्ञानाद्वैतको माननेवाले बौद्ध। इस

तरह प्रारम्भके चार दर्शन अद्वैतवादी या अभेदवादी हैं।

द्वैतवादी—द्वैतवादी या भेदवादी शासनोंसे प्रयोजन उन दार्शनिक संप्रदायोंसे है जो किसी-न-किसी रूपमें एकसे अधिक तत्त्वको स्वीकार करते हैं। चार्वाक पृथ्वी आदि पाँच भूतोंको स्वीकार करता है, इसलिए प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी होनेपर भी उसकी गणना द्वैतवादी या भेदवादी दर्शनोंमें की गयी है। बौद्ध अनात्मवादी होनेपर भी पञ्चस्कन्धोंको स्वीकार करनेके कारण भेदवादी है। सांख्यने प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व माने हैं। इसी तरह नैयायिक, वैशेषिक आदि अन्य शासनोंमें भी एकसे अधिक तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। इसलिए इन सबकी गणना भेदवादी दर्शनोंमें की गयी है। इस तरह उपर्युक्त शासनोंमें प्रारम्भके चार शासनोंको छोड़कर शेष दस शासन द्वैतवादी या भेदवादी हैं।

उपर्युक्त चौदह शासनोंमें-से प्रस्तुत संस्करणमें केवल प्राभाकर शासन तक ही ग्रन्थ मुद्रित हुआ है; वास्तवमें तो प्राभाकरशासन भी पूरा नहीं है।

यह संस्करण जिन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर तैयार किया गया है, उन सभीमें ग्रन्थ इतना ही पाया जाता है। संभव है भविष्यमें इसकी पूर्ण प्रति भी कहीं उपलब्ध हो जाये! यह भी संभव है कि यह विद्यानन्दिकी अंतिम कृति हो, जिसे वे पूरा न कर सके हों!

भाषा और शैली

सत्यशासन-परीक्षाकी भाषा सरल, सुबोध एवं सरस संस्कृत है। उद्धृत वाक्य तथा विद्यानन्दिकी स्वनिर्मित कारिकाओं (जो कि प्रत्येक शासनके अन्तमें पायी जाती हैं) के अतिरिक्त संपूर्ण ग्रन्थ सुन्दर गद्यमें रचा गया है। न्यायकी शुष्क शैलीमें भी संस्कृतका माधुर्य सुरक्षित रखा जा सकता है, इसका सत्यशासन-परीक्षा अद्वितीय प्रमाण है। अष्टसहस्री तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी दुरूह भाषा लिखनेवाला व्यक्ति इतना सरल शब्द-विन्यास भी कर सकता है, यह विद्यानन्दि-जैसे संस्कृत भाषाके महान् पण्डितके लिए ही संभव था। छोटे-छोटे वाक्योंमें कठिनसे-कठिन प्रमेयको उपस्थित करके विद्यानन्दिने संस्कृत और न्यायके गूढ़ तत्त्वोंको समझानेका प्रयत्न किया है।

सत्यशासन-परीक्षाकी भाषा कहीं-कहीं साहित्यकी तरह आलंकारिक भी हो गयी है। जैसे—

"एवं हि सर्वभावानां क्षणभङ्गसंगममेवाङ्गश्शृङ्गारमङ्गीकुर्वाणास्ताथागताः संगिरन्ते।" (बौद्ध०§१)

"प्राक् परमाणवः प्रतिभासन्त इति परेषां प्रतिज्ञा पोप्लूयते।" (बौद्ध० § १८)

इन उदाहरणोंमें शब्दानुप्रासकी छटा दर्शनीय है।

भाषाके जालमें लपेटकर विद्यानन्दि साहित्यिक उपहास किये बिना भी नहीं रहते—

"न चैते····प्रत्यक्षबुद्धौ भिन्नाः प्रतीयन्ते प्रत्यक्षताञ्च स्वीकर्तुमिच्छन्तीति तेऽमी अमूल्यदानक्रयिणः।" (वैशे० § ११)

इस पंक्ति-द्वारा किस कुशलतासे पूर्वपक्षीको मुफ्तखोर कह दिया गया है, यह देखने योग्य है। और भी—

"तथा च हेयोपादेयोपायरहितमयमह्लीकः केवलं विक्रोशतीत्युपेक्षार्ह एव।" (बौद्ध० § ५०)

इन शब्दोंके द्वारा विद्यानन्दिने धर्मकीर्तिके निम्न शब्दोंको सधन्यवाद लौटा दिया है—

"एतेनैव यदह्लीका यत्किंचिदश्लीलमाकुलम्। प्रलपन्ति················।" (प्रमाणवार्तिक ३।१८२)

इस प्रकार सत्यशासन-परीक्षाकी भाषा पाठकको न तो कहीं रुकावट पैदा करती है और न अरुचि।

सत्यशासन-परीक्षाकी शैली यद्यपि विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे न्याय-ग्रन्थोंके समान ही कही जा सकती है, फिर भी इसकी एक अपनी अनूठी विशेषता भी है। जिस दर्शनको समीक्षाके लिए प्रस्तुत करना है सर्वप्रथम उसके सिद्धान्तोंको उसी दर्शनके मूल ग्रन्थोंसे उद्धरण देकर विस्तारके साथ पूर्वपक्षकी स्थापना की जाती है। पूर्वपक्षको पढ़ते समय ऐसा महसूस होता है कि उसी दर्शनके मूल ग्रन्थको पढ़ा जा रहा हो। उदाहरणके लिए ब्रह्माद्वैतको ही ले लें, पूर्वपक्षकी स्थापना इस प्रकार की है—

"देशकालाकारव्यवच्छिन्ननिर्व्यभिचार-सकलावस्थाव्यापि प्रतिभासमात्रमखण्डज्ञानानन्दामृतमयं परम-ब्रह्मैकमेवास्ति न तु द्वितीयम्, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्याद्याम्नायात्।" (परम० § ५)

"कथमेकमेव परब्रह्मास्ति, परस्परं भिन्नानां नानात्मनां प्रतीतेरिति चेत्; न; एकस्यापि तस्य भूते भूते व्यवस्थितस्य जलेषु चन्द्रवत् अनेकधा प्रतिभाससंभवात्। तदुक्तम्—

"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥" (वही० § ६)

इसके आगे और भी विस्तारके साथ ब्रह्माद्वैतका विवेचन है। इसे पढ़कर यह लगता है कि वेदान्तका ही कोई ग्रन्थ पढ़ा जा रहा हो। यही प्रक्रिया प्रत्येक शासनमें अपनायी गयी है।

पूर्वपक्षके बाद उत्तरपक्षमें उस शासनको विभिन्न तर्कों तथा पूर्व जैनाचार्योंके शास्त्रोंसे प्रमाण देकर दृष्ट और इष्ट विरुद्ध सिद्ध किया गया है। यथा—

"तदेतत्..........प्रत्यक्षविरुद्धम्..........तथेष्ट विरुद्धञ्च.........."

यही शैली पूरे ग्रन्थमें अपनायी गयी है।

[३] ग्रन्थसार

§ १-४. विद्या (अनन्तज्ञान) तथा आनन्द (अनन्तसुख) के अधिपति जिनेन्द्रदेवको विद्यानन्दिस्वामी-का नमस्कार हो।

इस ग्रन्थका नाम सत्यशासन-परीक्षा है। इसमें पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, सेश्वरसांख्य, निरीश्वरसांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट, प्राभाकर, तत्त्वोपप्लव तथा अनेकान्तशासनके सत्यत्वकी समीक्षा की गयी है। परस्पर विरोधी बातोंका प्रतिपादन करनेके कारण सभी शासन तो सत्य हो नहीं सकते, कोई एक ही सत्य होगा। सत्यताकी कसौटी यह है कि जो शासन दृष्ट (प्रत्यक्ष) तथा इष्ट (अनुमान आदि) से बाधित न हो वही सत्य है। इसी आधारपर समीक्षा की गयी है।

[परमब्रह्माद्वैत-शासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ ५. ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, अखण्डज्ञानानन्दमय है, सम्पूर्ण अवस्थाओंको व्याप्त करनेवाला है एवं प्रतिभासमात्रसे जाना जाता है।

§ ६. एक ही ब्रह्म अनेक भूतों (जड़-चेतन) में जलमें चन्द्रमाकी तरह भिन्न-भिन्न प्रकारसे दिखायी देता है।

§ ७. पृथ्वी आदि ब्रह्मके विवर्त हैं, भिन्न तत्त्व नहीं। इस चराचर संसार (प्रपञ्च) की उत्पत्ति इसी ब्रह्मसे होती है।

§ ८. अनादिकालीन अविद्याके संसर्गके कारण परब्रह्मसे प्रपञ्च (संसार) की उत्पत्ति होती है।

§ ९. यह अविद्या सत् और असत्से भिन्न अनिर्वचनीय है।

§ १०. जिस तरह भ्रमवश रस्सीमें साँपका ज्ञान होता है, उसी प्रकार मायारूप यह संसार उसी परब्रह्ममें प्रतिभासित होता है।

§ ११. जबतक अविद्या रहती है तभीतक यह सब विवर्त दृष्टिगोचर होते हैं, अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर नहीं। यही अविद्या-निवृत्ति मोक्ष है।

ब्रह्मका साक्षात्कार मोक्षका उपाय है। श्रवण, मनन और ध्यानके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

§ १२. उपनिषद् वाक्योंका परमब्रह्ममें तात्पर्य निश्चित करना श्रवण है। सुने हुए अर्थका युक्तिपूर्वक विचार करना मनन है तथा श्रवण और मननके द्वारा निश्चित किये गये अर्थका मनसे चिन्तन करना ध्यान है। यह ध्यान नित्यानित्य वस्तुविवेक, शम, दम आदि सम्पत्ति, इस लोक तथा परलोकसे वैराग्य और

मुमुक्षुपना, इन साधन-चतुष्टयोंसे सम्पन्न व्यक्तिके ही होता है। इसके होनेपर ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। इस तरह मोक्षमें परमब्रह्मके साथ एकीभाव हो जाता है।

[उत्तरपक्ष]

§ १३. यह परमब्रह्माद्वैत प्रत्यक्ष विरुद्ध है। प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थ परस्पर भिन्न और सत्य दिखायी पड़ते हैं, इसलिए परमब्रह्माद्वैत नहीं माना जा सकता।

§ १४. स्वप्नसंवेदनमें भी क्रिया और कारकोंका भेद होता ही है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि स्वप्नसंवेदनकी तरह एक ब्रह्ममें ही भेद दिखायी पड़ता है।

§ १५. भेदावभासी प्रत्यक्षको इन्द्रजाल आदि प्रत्यक्षकी तरह भ्रान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन्द्रजाल तो अत्यन्त भ्रान्त है, इस बातको बच्चे भी जानते हैं; इसके विपरीत 'कुम्भकार दण्ड आदिसे घड़ा बनाता है' और 'वह हाथसे भात खाता है' इत्यादि क्रिया-कारक भेद भ्रान्त नहीं हैं, कारण यहाँ कोई बाधक नहीं है।

§ १६. भेदको माने विना बाधक सम्भव नहीं; जैसे शुक्तिकामें रजत भ्रान्तिके लिए शुक्तिकाका भेद मानना आवश्यक है।

§ १७, १८. 'आँख खोलते ही निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा सत्ता सामान्यके रूपमें परमब्रह्मका प्रत्यक्ष होता है', यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि नित्य, निरवयव, व्यापक सत्ता सामान्यका कभी भी अनुभव नहीं होता। आँख खोलनेपर भी प्रतिनियत देश और प्रतिनियतमें पदार्थोंका देखा जाना काल आदि विशेषों सहित ही सामान्यका अनुभव होता है। जिस तरह विशेष सामान्यके बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार सामान्य विशेषके बिना नहीं रह सकता।

§ १९. 'प्रत्यक्ष विधि (सद्भाव) को विषय करनेवाला है निषेधको नहीं, इसलिए उससे ब्रह्माद्वैत-का निषेध नहीं किया जा सकता,' यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि विधिके समान निषेध भी प्रत्यक्षका विषय सम्भव है।

§ २०. हेतुसे ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि करनेपर साध्य और हेतुका द्वैत हो जायेगा।

§ २१. हेतु और साध्यमें सर्वथा तादात्म्य मानना उचित नहीं; क्योंकि सर्वथा तादात्म्य माननेपर उनमें साध्य-साधनभाव नहीं बन सकता।

§ २२. आगमसे अद्वैतकी सिद्धि माननेपर आगम और ब्रह्मके द्वैतका प्रसंग आयेगा।

§ २३. आगमको ब्रह्मका स्वभाव माननेपर ब्रह्मकी तरह आगम भी असिद्ध हो जायेगा।

§ २४. 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इस वचनसे भी द्वैतकी ही सिद्धि होती है। सर्व (प्रसिद्ध संसार) और ब्रह्म (अप्रसिद्ध) के भेदसे द्वैत मानना पड़ेगा।

§ २५. स्वसंवेदन-द्वारा पुरुषाद्वैतकी सिद्धि माननेपर स्वसंवेदन और पुरुष (ब्रह्म) का द्वैत मानना होगा। स्वसंवेदनको पुरुषसे अभिन्न माननेपर वह साधन नहीं बन सकता।

§ २६. पुरुषाद्वैत विज्ञानाद्वैतकी तरह स्वतः सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूपका स्वतः ज्ञान नहीं होता।

§ २७. यदि पुरुषाद्वैतकी सिद्धि स्वतः मान भी ली जाये तो उसी तरह द्वैत भी स्वतः सिद्ध मान लेना चाहिए। स्वतः सिद्धि मानना तो मनमानी है; इस तरह तत्त्वोपप्लव और नैरात्म्य भी सिद्ध हो सकता है।

इस तरह परमब्रह्मको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं।

§ २८. 'प्रत्यक्ष आदि मिथ्या हैं, क्योंकि भेदप्रतिभासी है, जैसे स्वप्न प्रत्यक्ष आदि।' इस अनुमानमें पक्ष, हेतु और दृष्टान्तके भेद-प्रतिभासको अमिथ्या माननेपर उसी हेतु भेद-प्रतिभासके साथ व्यभिचारी हो

जायेगा। यदि उसे मिथ्या मानें तो मिथ्या अनुमानसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरोंके द्वारा माने गये पक्ष आदिके भेद-प्रतिभासको अमिथ्या मानकर उससे प्रत्यक्षको मिथ्या सिद्ध करनेमें अनवस्था आयेगी।

§ २९. प्रत्यक्षमें प्रतीत होनेवाले क्रिया-कारक भेद भ्रान्त हैं, इसलिए वे ब्रह्मके बाधक नहीं बन सकते; ऐसा माननेपर बाध्य और बाधकको द्वैत मानना पड़ेगा।

§ ३०. इस तरह अभ्रान्त प्रत्यक्ष-द्वारा प्रसिद्ध क्रिया-कारकका भेद परमब्रह्माद्वैतको दृष्ट (प्रत्यक्ष) विरुद्ध सिद्ध करता है।

§ ३१. उपर्युक्त विवेचनसे ही परमब्रह्माद्वैतशासन इष्ट विरुद्ध भी सिद्ध होता है; क्योंकि ऊपर अनुमान और आगमके द्वैतकी चर्चा की जा चुकी है। द्वैतके बिना अद्वैतकी सिद्धि उसी तरह सम्भव नहीं है जिस तरह हेतुके बिना साध्यकी सिद्धि; क्योंकि प्रतिषेध्यके बिना प्रतिषेध नहीं होता।

§ ३२. इसके अतिरिक्त ब्रह्मवादमें तत्त्वोपप्लवकी तरह पुण्य-पाप, सुख-दुःख, इहलोक-परलोक, विद्या-अविद्या तथा बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं बनेगी।

§ ३३. इस तरह ब्रह्मवादियोंका सारा कथन वन्ध्यापुत्रके स्वरूप-वर्णनकी तरह व्यर्थ ही है, क्योंकि किसी भी प्रमाणसे ब्रह्माद्वैत सिद्ध नहीं होता। यदि किसी प्रमाणसे मानें तो प्रमाण और प्रमेयके द्वैतका प्रसंग आयेगा। भ्रान्त प्रमाणसे अद्वैतकी सिद्धि माननेपर स्वप्नमें देखे गये धुएँसे वास्तविक अग्निकी उपलब्धिका भी प्रसंग आयेगा।

§ ३४. एक बात यह भी है कि यदि एक ही परमब्रह्म है तो वही क्यों नहीं सर्वप्रथम ज्ञात होता और यदि संसार—(प्रपञ्च) खर-विषाणकी तरह सर्वथा अभाव रूप है तो वही क्यों अहमहमिकतया प्रतीत होता है! यह कहना ठीक नहीं कि अविद्याके कारण ऐसा होता है; क्योंकि अविद्याको यदि सत् माना जायेगा तो ब्रह्म और अविद्याका द्वैत हो जायेगा; यदि असत् मानें तो वह मिथ्या प्रतीतिका कारण नहीं बन सकती और यदि सत्-असत्से भिन्न अनिर्वचनीय मानें तो यह उपदेश नहीं बन सकता कि—'अविद्या संसार दशामें है, क्योंकि संसार अविद्याका विलास है; मुक्ति दशामें नहीं; क्योंकि मुक्ति अविद्या निवृत्ति रूप है। यह कहना कि अविद्या अनिर्वचनीय है, उसी तरह है जिस तरह यह कहना कि 'मैंने जीवन-भरके लिए मौन धारण किया है, मेरे पिता ब्रह्मचारी हैं, मेरी माँ वन्ध्या है' इत्यादि।

§ ३५-४१ इन सात वाक्य खण्डोंमें अविद्याका विस्तारके साथ खण्डन किया गया है।

[शब्दाद्वैतशासन-परीक्षा]

§ ४२. परमब्रह्माद्वैतके उपर्युक्त विवेचनसे शब्दाद्वैतका भी निराश हो जाता है। परमब्रह्माद्वैतकी तरह इसमें भी पूर्वोक्त दोष आते हैं, केवल प्रक्रिया मात्रका भेद है; इसी कारण उसका पुनः विस्तार नहीं किया गया। ● ●

[विज्ञानाद्वैतशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ १-५ सम्पूर्ण ग्राह्य-ग्राहकाकार ज्ञान भ्रान्त हैं। जिस प्रकार स्वप्न और इन्द्रजाल आदि ज्ञान भ्रान्त होते हैं उसी प्रकार ग्राह्य-ग्राहकाकार आदि प्रत्यक्ष भी भ्रान्त हैं। भ्रान्त, प्रत्यक्ष आदिके द्वारा जाने गये बाह्य अर्थ वास्तविक नहीं हैं अन्यथा स्वप्नप्रत्यक्षको भी वास्तविक मानना होगा। इस तरह बाह्य अर्थ असम्भव है। स्वसंवित्ति (विज्ञान) ही खण्डशः प्रतिभासित होती हुई समस्त वेद्य-वेदक व्यवहारको कराती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश स्वसंवित्तिसे भिन्न कुछ भी नहीं हैं। एक संवित्ति ही नील, पीत, सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारसे ज्ञात होती है। इसलिए बाह्य अर्थके अभावमें विज्ञानाद्वैत ही सिद्ध होता है।

[उत्तरपक्ष]

§ ६. यह विज्ञानाद्वैत प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि विज्ञान-स्वरूप अन्तरंग अर्थको तरह बाह्य अर्थका भी वास्तविक रूपसे प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्षको भ्रान्त कहना युक्ति-युक्त नहीं; क्योंकि ऐसा कहनेपर विज्ञानाद्वैतवादियोंको सर्वथा क्षणिक, अनन्यवेद्य तथा नाना सन्तानवाले विज्ञानोंकी सिद्धि अनुमानसे करनी होगी। स्वसंवेदनसे सिद्धि माननेपर उसीसे पुरुषाद्वैतकी भी सिद्धि हो जायेगी। वास्तवमें तो पूर्वोक्त प्रकारके विज्ञानोंका अनुभव ही नहीं होता। इसलिए विज्ञानकी सिद्धि अनुमानसे ही माननी होगी।

§ ७-८. अनुमानसे संवित्ति (विज्ञान) का वेद्य-वेदकभाव माननेपर बाह्य अर्थमें भी उसीसे वेद्य-वेदक भाव मान् लेना चाहिए; क्योंकि दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। यहाँपर अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होगा—

"विमत्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं साक्षात्परम्परया वा स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनम्; ग्राह्यग्राहकाकारत्वात्; सन्तानान्तराद्यनुमानवत्।"

यह कहना उचित नहीं कि इस अनुमानमें बाधित विप्लवज्ञानसे व्यभिचारदोष आयेगा; क्योंकि ऐसा कहनेपर सन्तान आदि साधनके भी वही दोष आयेगा।

§ ९. यदि सत्याभिमतज्ञानसे वासनाभेद माना जाये तो बाह्य अर्थके विषयमें भी ऐसा ही मानना चाहिए।

§ १०. "बाह्य अर्थके प्रत्यक्षका बाधक नील और उसके ज्ञानका अभेद मौजूद है,
क्योंकि दोनोंका एक साथ ज्ञान होता है;
जैसे द्विचन्द्रज्ञान।"

यह अनुमान प्रत्यक्षका बाधक नहीं बन सकता; क्योंकि इसमें किया गया हेतु विरुद्ध है। असिद्ध भी है।

§ ११. "सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्।" यह अनुमान भी बाह्य प्रत्यक्षका बाधक नहीं; क्योंकि साध्य और साधन दोनों विज्ञानमात्र होनेसे हेतु नहीं बन सकता।

§ १२. इस तरह विज्ञानाद्वैत प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

§ १३. विज्ञानाद्वैत इष्ट विरुद्ध भी है; क्योंकि अनुमानसे बाह्य अर्थ सिद्ध होते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—

"सन्ति बहिरर्थाः, साधनदूषणप्रयोगात्।"

§ १४.-१५. इस अनुमानमें साधनसे प्रयोजन नील आदिके संवेदनत्वसे है; दूषणका अर्थ है बाह्य अर्थका निषेध; तथा इन दोनोंके प्रयोगका अर्थ है प्रकाशन या विवेचन करना। इस तरह विज्ञानाद्वैत इष्ट विरुद्ध भी है। ● ●

[चित्राद्वैतशासन-परीक्षा]

§ १६. उपर्युक्त विज्ञानाद्वैतके निराससे चित्राद्वैतका भी निरास हो जाता है; क्योंकि चित्राद्वैत-वादियोंके यहाँ भी विज्ञानाद्वैतकी तरह बाह्य अर्थका निषेध किया गया है। ● ●

[चार्वाकशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ १. "सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥"
(तत्त्वसं० श्लो० ३१४९)

—सुगत यदि सर्वज्ञ है, कपिल नहीं; तो इसमें क्या प्रमाण है? और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तो उनके विचारोंमें परस्पर भेद क्यों है?

इसलिए कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

§ २. आगम और तर्क भी प्रमाण नहीं; क्योंकि उनमें भी परस्पर विरोध देखा जाता है; अतएव धर्मानुष्ठान भी सिद्ध नहीं होते। कहा भी है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सः पन्थाः॥"

—विचार करनेपर तर्क टिकता नहीं, श्रुतियाँ (आगम) विभिन्न प्रकारकी हैं, ऐसा कोई मुनि नहीं जिसके वचनोंको प्रमाण माना जा सके। धर्मका तत्त्व गूढ़ है, इसलिए महापुरुष जिस मार्गसे चलें वही मार्ग श्रेष्ठ है।

§ ३. बृहस्पतिने प्रत्यक्ष प्रसिद्ध पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन्हीं चार तत्त्वोंका वर्णन किया है। शरीर रूपमें परिणत हुए इन्हीं तत्त्वोंमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्योंके संयोगसे मद शक्ति अथवा ताँत (स्नायु), तूँबी, दण्ड और अगूँठे आदिके संयोगसे मधुर स्वर उत्पन्न हो जाता है। यह चैतन्य गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त 'जीव' 'आत्मा' इत्यादि नामोंसे पुकारा जाता है। गर्भके पूर्व तथा मरणके उपरान्त इसका अभाव है।

§ ४. इस तरह ऐसा जीव नहीं जिसका परलोक हो; अतएव परलोकीके अभावमें परलोकका अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। मूर्ख लोग व्यर्थ ही ठगे जाकर परलोकके सुखानुभवके लिए शरीर और धनका अपव्यय करते हैं। मृत्यु अवश्यम्भावी है; भस्म हुआ शरीर फिरसे वापस नहीं आनेवाला; इसलिए जबतक जिन्दगी है, सुखसे जीना चाहिए। अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्ड धारण करना आदि कार्य बुद्धि और पौरुषहीन लोगोंकी आजीविका है।

[उत्तरपक्ष]

§ ५–६. प्रत्यक्षसे पृथ्वी आदिका परस्पर उपादान-उपादेय भाव देखा जाता है। चन्द्रकान्त और सूर्यकान्त मणियोंसे चन्द्रमा और सूर्यके प्रकाशमें क्रमशः जल और अग्नि निकलना, अग्निरूप दीपकसे पृथ्वी-रूप कज्जल तथा जल (स्वाति नक्षत्रके) विशेषसे मोती बनना, पंखेसे हवा होना, इत्यादि उदाहरण प्रत्यक्ष-से पृथ्वी आदि तत्त्वोंका उपादान-उपादेय भाव व्यक्त करते हैं।

§ ७–८. 'जीव नहीं है' यह कथन भी प्रत्यक्षविरुद्ध है। स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुभव होता है। इस तरह अनुमानके बिना भी जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है। हेतु तो उसके लिए दिया जाता है, जो प्रत्यक्षसे सिद्ध न हो। हाथमें पहने हुए कंकनको देखनेके लिए दर्पण नहीं लिया जाता।

§ ९–१०. जीव और शरीरमें भेद है, क्योंकि जीव भोक्ता है और शरीर भोग्य। भोग्यके सद्भावमें भोक्ताकी स्वतन्त्र सिद्धि हो जाती है। शरीरको ही यदि भोक्ता मान लिया जाये तो मृतक शरीरमें भी भोक्तृत्वका प्रसंग आयेगा। इस तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा भोक्तृत्वके आधारपर जीवकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है।

§ ११. चार्वाकशासन इष्टविरुद्ध भी है, यह बताते हुए सर्वप्रथम जीवको प्रतिषेध, गौणकल्पना, शुद्धपद, अनेक सम्मति तथा जिनोक्तिके द्वारा अनादि, अनन्त, शरीरसे भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध किया गया है।

§ १२. किसी भी वस्तुका निषेध प्रकारान्तरसे उस वस्तुके अस्तित्वको सिद्ध करता है। उदाहरणके लिए यह कथन कि 'यहाँ घड़ा नहीं है' प्रकारान्तरसे यह बात सिद्ध करता है कि 'अन्यत्र घड़ा है'।

§ १३. इस संदर्भमें यह तर्क उचित न होगा कि—'जिसका सर्वथा अभाव होता है उसीका निषेध किया जाता है, जैसे गधेके सींग सर्वथा नहीं होते, इसीलिए उनका निषेध किया जाता है;' क्योंकि गाय आदिके सिरपर विद्यमान सींगोंका ही गधेके सिरपर निषेध किया जाता है, न कि सर्वथा अभावरूप सींगोंका।

१४. गौण कल्पनासे भी जीव सिद्ध होता है। पुरुष-चित्रको देखकर यह कहना कि 'यह सजीव चित्र है', अथवा किसी क्रोधी लड़केको देखकर कहना 'यह बालक सिंह है' ये दोनों गौण कथन मुख्यरूपसे क्रमशः 'जीव' तथा 'सिंह'के अस्तित्वको सिद्ध करते हैं।

§ १५. 'जीवः' यह अखण्ड पद प्रमाणपदकी तरह मुख्य रूपसे अपने बाह्य अर्थसहित है; क्योंकि वह अखण्ड पद है।' यह अनुमान भी जीवके अस्तित्वको सिद्ध करता है।

§ १६. इसी तरह अनेक विशिष्ट जन संमत होनेसे तथा आप्तके द्वारा उपदिष्ट होनेसे भी जीव सिद्ध होता है।

§ १७. चैतन्य स्वरूप जीवके राग आदि तथा जड़ शरीरके बालक, युवा, वृद्ध आदि अलग-अलग धर्म देखे जाते हैं, इसलिए दोनोंको एक नहीं माना जा सकता। यदि जीवको भूतोंका धर्म मानें तो 'उपादान कारणके समान ही कार्य होता है' इस नियमके अनुसार जीवके भी पृथ्वी आदि तत्त्वोंके समान धारण, ईरण, द्रव, उष्णता आदि मूर्त धर्म हो होना चाहिए; अतएव जीव शरीरसे भिन्न ही है।

§ १८. तत्काल उत्पन्न बालककी स्तन्यपानमें रुचि होना, मृत व्यक्तियोंका कभी यक्ष, राक्षस आदि योनिमें उत्पन्न होनेका स्वयं कथन करना तथा किसी-किसी-द्वारा पूर्वभवका स्मरण किया जाना, इन तीनों बातोंसे परलोकका भी सद्भाव सिद्ध होता है।

§ १९. जन्म आदि कारण समान होनेपर भी सुख, दुःख आदिकी विभिन्नता होना पुण्य-पापके अस्तित्वको सिद्ध करता है।

§ २०–२२. चार्वाक केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्षमात्रसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करना असम्भव है। प्रत्यक्ष-द्वारा किसी निश्चित स्थान और समयमें सर्वज्ञका निषेध किया जा सकता है सर्वत्र और त्रिकालमें नहीं। किसी स्थान और समय विशेषमें सर्वज्ञका अभाव माननेमें चार्वाकोंके अतिरिक्त अन्य लोगोंको भी विवाद नहीं; क्योंकि 'इस समय यहाँ कोई सर्वज्ञ नहीं है' यह कथन अन्यत्र अन्य समयमें सर्वज्ञकी विद्यमानताको स्वयमेव सिद्ध कर देता है। इसी तरह सर्वत्र और त्रिकालमें यदि सर्वज्ञका अभाव कहा जाये तो अभाव सिद्ध करनेवाला सर्व (त्रिलोक) और त्रिकालको जाननेके कारण स्वयं सर्वज्ञ हो जायेगा; क्योंकि सर्वज्ञकी परिभाषा भी यही है कि जो तीनों लोकों और तीनों कालोंके समस्त पदार्थोंको एक साथ हस्तामलकवत् जानता है वही सर्वज्ञ है।

§ २३. इस तरह केवल प्रत्यक्ष प्रमाणके आधारपर सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता, चार्वाकोंको अनुमान मानना इष्ट ही नहीं; अतएव अनुमानसे अभाव सिद्ध करनेका प्रश्न ही नहीं उठता। इस-तरह सर्वज्ञके सद्भावमें कोई बाधक न होनेसे वह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार संक्षेपमें चार्वाकसिद्धान्तोंका खण्डन करके कहा गया है कि उक्त प्रकार चार्वाकशासन दृष्ट और इष्ट विरुद्ध होनेके कारण बुद्धिमानोंके द्वारा आदरणीय नहीं हो सकता तथा इसके द्वारा स्याद्वादका विरोध भी नहीं हो सकता।

[बौद्धशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ १. रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पाँच ही तत्त्व हैं। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शके परस्पर असंबद्ध और सजातीय तथा विजातीय परमाणुओंसे भिन्न परमाणु रूप-स्कन्ध हैं। सुख-दुःख आदि वेदना-स्कन्ध हैं। सविकल्पक-निर्विकल्पक ज्ञान विज्ञान-स्कन्ध हैं। जाति आदिकी कल्पनासे युक्त ज्ञान सविकल्पक और उससे रहित ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। वृक्षादिके नाम संज्ञा-स्कन्ध हैं। ज्ञान तथा पुण्य-पापकी वासना संस्कार-स्कन्ध हैं। इस प्रकार ये पाँच स्कन्ध हैं।

§ २-३. इन पंच स्कन्धोंमें पूर्व-पूर्वके चित्तक्षण उत्तरोत्तर चित्तक्षणोंको उपादानोपादेय रूपसे जन्म देते हैं। यद्यपि वे परस्पर भिन्न, निरन्वय, निरंश तथा प्रत्येक क्षणमें विनाश होनेवाले हैं फिर भी भ्रान्तिके कारण उनमें एकत्वका प्रत्यभिज्ञान होता है; इसे ही संस्काररूपसे वर्तमान होनेके कारण आत्मा कह देते हैं। वास्तवमें वे भिन्न ही हैं।

अविद्या और तृष्णाके समाप्त हो जानेपर सन्तानकी पूर्ण उच्छित्ति होना मोक्ष है।

काषाय चीवर धारण करना, सिर मुड़ाना, ब्रह्मचर्य पालन करना आदि मोक्षके उपाय हैं।

§ ४. मुमुक्षुको दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य अवश्य जानना चाहिए।

दुःख चार प्रकारके हैं—सहज, शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक। क्षुधा, तृष्णा, काम, भय आदि सहज दुःख हैं; वात, पित्त और कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक दुःख हैं; धिक्कार, अवज्ञा तथा इच्छाविघातसे उत्पन्न होनेवाले मानसिक दुःख हैं तथा शीत, वायु, वज्रपात आदिसे उत्पन्न होनेवाले आगन्तुक दुःख हैं। इन दुःखोंसे युक्त चित्तक्षण संसारियोंके दुःख कहलाते हैं।

दुःखको उत्पन्न करनेवाले कर्मबन्धके कारण अविद्या और तृष्णा दुःखसमुदय है। वस्तुकी याथात्म्य प्रतिपत्ति न होना अविद्या है, तथा इष्ट इन्द्रिय विषयोंको प्राप्त करनेकी तथा अनिष्ट इन्द्रिय विषयोंको दूर करनेकी इच्छा तृष्णा है।

अविद्या और तृष्णाका नाश हो जानेसे निरास्रव चित्तक्षण अथवा सन्तानोच्छित्ति रूप मोक्ष दुःख-निरोध है।

§ ५. मोक्षके कारण मार्गणा हैं।

मार्गणाके आठ अंग हैं—

१. सम्यक्त्व	५. कर्म
२. संज्ञा	६. अन्तर्व्यायाम
३. संज्ञी	७. आजीवस्थिति
४. वाक्काय	८. समाधि

पदार्थोंका याथात्म्यदर्शन सम्यक्त्व है। वाचक शब्द संज्ञा तथा वाच्य अर्थ संज्ञी है। वचन और काय (शरीर)के कार्य वाक्काय हैं। वायुधारणा अन्तर्व्यायाम है। आयुपर्यन्त प्राणधारण करना आजीवस्थिति है। सब दुःख रूप है, सब क्षणिक है, सब निरात्मक है, सब शून्य है, इस तरहकी सत्यभावना समाधि है।

भावनाके प्रकर्षसे अविद्या और तृष्णाका नाश हो जाता है। समस्त पदार्थोंका ज्ञान करानेवाले चित्त-क्षण निरास्रव हो जाते हैं। यही योगिप्रत्यक्ष है। योगी आयुपर्यन्त उपासकोंको धर्मका उपदेश देकर अन्तमें निर्वाणको प्राप्त कर लेता है।

आयुके समाप्त हो जानेपर दीपकके बुझ जानेके समान आत्माका अन्त हो जाना निर्वाण है। जिस-प्रकार दीपक बुझनेपर न तो पृथ्वीको जाता है, न आकाशको, न किसी दिशाको और न किसी विदिशाको; प्रत्युत तेलके समाप्त हो जानेसे शान्त हो जाता है; इसी तरह निर्वाणको प्राप्त हुआ जीव न तो पृथ्वीको जाता है, न आकाशको, न किसी दिशाको और न विदिशाको; प्रत्युत मोहके नाश हो जानेसे शान्त हो जाता है।

[उत्तरपक्ष]

§ ६. उपर्युक्त बौद्ध सिद्धान्त प्रत्यक्ष विरुद्ध है। प्रत्यक्षसे निरन्वय, विनाशशील परमाणुका साक्षात्कार नहीं होता, इसके विपरीत स्थिर, स्थूल और साधारण आकारवाले घटादिका ही प्रत्यक्ष होता है।

§ ७. यह मानना युक्तियुक्त नहीं कि अत्यन्त आसन्न और संसृष्ट परमाणुओंमें ही भ्रमसे स्थूल, स्थिर आदिका ज्ञान होता है; क्योंकि ऐसा माननेपर प्रत्यक्षका 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' यह लक्षण नहीं बनेगा।

§ ८. परमाणुओंमें भी यह लक्षण नहीं बनता।

§ ९. निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे परमाणुओंका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि अविसंवादरहित होनेके कारण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अनिश्चयात्मक है; अतएव अप्रमाण है।

§ १०–५०. इन वाक्यखण्डोंमें विस्तारके साथ परमाणु-प्रत्यक्षका खण्डन है।

[सांख्यशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ १. यह समस्त संसार प्रधान (प्रकृति) मय है। सत्त्व, रज और तमोगुणकी साम्यावस्थाका नाम प्रधान (प्रकृति) है।

§ २. सत्त्व गुण इष्ट, प्रकाशक तथा लघु होता है। इसके उदयसे प्रशस्त ही परिणाम होते हैं। रजो-गुण चल, अवष्टंभक, दारक और ग्राहक होता है। इसके उदयसे राग परिणाम होते हैं। गुरु, आवरण करने-वाला तथा अज्ञानरूप तमोगुण है। इसके उदयसे द्वेषके कारण अज्ञानरूप ही परिणाम होते हैं। इन तीनों गुणों-की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रधान व बहुधानक इसके नामान्तर हैं।

§ ३. प्रकृति ही संसारको उत्पन्न करनेवाली है। प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार, अहंकारसे पंच-तन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये षोडशगण तथा पंचतन्मात्राओंसे पंचभूतोंकी उत्पत्ति होती है।

§ ४. ये चौबीस तत्त्व हैं। पच्चीसवाँ जीव तथा छब्बीसवाँ मुक्त है। यह निरीश्वर सांख्योंकी मान्यता है। सेश्वर सांख्योंके अनुसार छब्बीसवाँ महेश्वर है तथा सत्ताईसवाँ मुक्त है।

§ ५. प्रकृति और पुरुषके भेद-विज्ञानसे मोक्ष होता है। पंचविंशति तत्त्वोंका परिज्ञान मोक्षका कारण है।

[उत्तरपक्ष]

§ ६-७. यह सांख्यमत दृष्ट (प्रत्यक्ष) विरुद्ध है—सांख्योंने प्रकृतिको नित्य तथा सर्वव्यापी माना है। इसका अर्थ है कि सब कुछ सभी जगह रहना चाहिए 'सर्वं सर्वत्र वर्तते'। किन्तु प्रत्यक्षसे ऐसा ज्ञात नहीं होता।

§ ८-१०. 'सबका सब जगह सद्भाव रहनेपर भी जिसका जहाँ आविर्भाव होता है वही वहाँ दृष्टि-गोचर होता है।' सांख्योंका यह कथन युक्त नहीं; क्योंकि यह आविर्भाव किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता।

§ ११. इसी तरह तिरोभाव मानना भी उचित नहीं; क्योंकि वह भी आविर्भावकी तरह सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार आविर्भाव और तिरोभावके असिद्ध होनेसे प्रधान भी असिद्ध हो जाता है। उसके अभावमें महत् आदि कुछ भी नहीं बनेगा।

§ १२. इसके बाद भी यदि महदादिका निरूपण करें तो प्रश्न होगा कि यह प्रधानका कार्य है या परिणाम? कार्य माननेपर सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

§ १३. परिणाम माननेपर प्रश्न होगा कि परिणाम प्रकृतिसे भिन्न हैं या अभिन्न? अभिन्न माननेपर क्रमसे वृत्ति नहीं होगी और भिन्न माननेपर प्रकृतिके साथ उनका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

§ १४. प्रकृतिको परिणामोंका उपकारी मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि अनेक दोष आते हैं।

§ १५. यदि यह मानें कि परिणाम प्रकृतिसे न भिन्न हैं न अभिन्न, प्रकृति ही महदादि रूपमें परिणत होती है; तो यह मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि इससे स्वयं सांख्यसम्मत नित्यैकान्तका विरोध होता है।

§ १६. इस तरह अनेक बाधकोंके होनेसे प्रकृति (प्रधान) सिद्ध नहीं होती। भोग्य प्रकृतिके अभावमें भोक्ता पुरुष भी सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार सांख्याभिमत सभी तत्त्व शून्य हो जाते हैं।

§ १७-१८. सांख्यमत इष्ट विरुद्ध भी है—कथंचित् नित्यत्व साधक अनुमानसे कूटस्थ नित्य पुरुषका विरोध आता है। अनुमान इस प्रकार है:

"विवादापन्नः पुरुषः स्यादनित्यः, अनित्यभोगाभिसम्बन्धत्वात्; यदित्थं तदित्थं दृष्टम्, यथा भोगस्वरूपम् ।"

§ १९. दृष्ट तथा 'इष्ट विरुद्ध होनेसे सांख्यागम भी प्रमाण नहीं है; इसलिए उनका धर्मानुष्ठान भी नहीं बनता । इस प्रकार दृष्टेष्ट विरुद्ध होनेसे सांख्यमत सम्यक् नहीं है ।

[वैशेषिकशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ १. बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव आत्म गुणोंका-अत्यन्त उच्छेद मोक्ष है । द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इन पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यका तत्त्वज्ञान मोक्षका कारण है । शैव, पाशुपत आदि दीक्षाग्रहण, जटाधारण, त्रिकाल भस्मोद्धूलन आदि तप और अनुष्ठान भी मोक्षके हेतु हैं ।

§ २-४. द्रव्य नव हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा आदि चौबीस गुण हैं । उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि पाँच कर्म हैं । पर और अपरके भेदसे सामान्य दो प्रकारका है । नित्य द्रव्योंमें रहनेवाला विशेष है । अयुत सिद्ध तथा आधार और आधेयभूत द्रव्योंका सम्बन्ध समवाय कहलाता है । इनके साधर्म्य-वैधर्म्यका तत्त्वज्ञान मोक्षका कारण है ।

§ ५-७. तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है; मिथ्याज्ञानके दूर होनेसे तज्जन्य राग-द्वेष; राग-द्वेषकी निवृत्तिसे तज्जन्य काय-वाङ्-मनोव्यापाररूप प्रवृत्ति तथा उसके दूर होनेसे कर्म-बन्ध-निवृत्ति हो जाती है । पूर्वोपार्जित कर्मोंका नाश भोगनेसे ही होता है अन्यथा नहीं । इन कर्मोंको भोगनेके विषयमें दो मत हैं—पहलेके अनुसार एक भवमें भी भोगे जा सकते हैं और दूसरेके अनुसार अनेक भवोंमें ।

[उत्तरपक्ष]

§ ८-९. यह वैशेषिकशासन प्रत्यक्षविरुद्ध है—वैशेषिकाभिमत अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिका सर्वथा भेद प्रत्यक्षविरुद्ध है; क्योंकि प्रत्यक्षसे अवयव-अवयवी आदि कथंचित् अभिन्न प्रतीत होते हैं ।

§ १०-११. यह कहना उचित नहीं कि समवायके द्वारा दोनों अर्थान्तर प्रतिभासित होते हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष बुद्धिमें ऐसा कभी भी प्रतिभासित नहीं होता कि 'ये अवयव हैं, ये अवयवी हैं और यह उनका समवाय ।'

१२-२६. वैशेषिकाभिमत समवाय सम्बन्ध भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि इसके माननेमें अनेक दोष आते हैं । [इन वाक्य खण्डोंमें विस्तारके साथ अनेक उपपत्तियों-द्वारा समवायका खण्डन किया गया है ।]

२७-२८. वैशेषिक मत इष्ट विरुद्ध भी है—वैशेषिकोंने संसारको ईश्वरकृत माना है, जो कि अनुमानविरुद्ध है । अनुमान इस प्रकार है—

"नेश्वरस्तन्वादीनां कर्ता, अशरीरत्वात्, य एवं स एवम्, यथात्मा, तथा चायम्, तस्मात्तथैव ।"

§ २९. 'अशरीरी भी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नके बिना कार्य नहीं कर सकता, इसलिए इन्हींको कारण माननेपर ईश्वर शरीरके बिना भी जगत्कर्ता बन सकता है ।' वैशेषिकोंका यह मानना उचित नहीं; क्योंकि ईश्वरमें बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न भी असंभव हैं । मुक्तात्मामें जिस तरह इनका अभाव है वैसे ही ईश्वरमें भी । इसके अतिरिक्त घट-पट आदि बुद्धिमन्निमित्तक हैं न कि पृथ्वी, पर्वत आदि ।

§ ३०. इतना होनेके बाद भी यदि हठाग्रहसे ईश्वरको कर्ता माना जाये तो प्रश्न होगा कि ईश्वर संसारके प्राणियोंको इतना दुःख क्यों देता है; जब कि अच्छे साधु आदि भी किसी प्राणीको दुःख नहीं

देते तो फिर इतना महान् ईश्वर क्यों दुःख देगा ? ऐसे भयंकर दुःख देनेवाला तो कोई राक्षस ही हो सकता है ईश्वर नहीं ।

§ ३१. यदि दुःखका कारण कर्मोंको मानें तो फिर ईश्वरको माननेकी जरूरत नहीं, कर्म ही शरीरादिके भी कारण हो जायेंगे ।

३२. यह कहना उचित नहीं कि अचेतन कर्मोंसे तनुकरणादिकी उत्पत्ति कैसे होगी; क्योंकि जिस प्रकार मदिरा, मदन, कोद्रव आदिसे उन्माद आदि कार्य उत्पन्न हो जाते हैं; उसी प्रकार कर्मोंसे शरीरादि भी ।

§ ३३-३४. वैशेषिकोंके द्वारा ईश्वर कर्तृत्व सिद्धिके लिए दिया गया बुद्धिमन्निमित्तत्व हेतु भी ठीक नहीं; क्योंकि यह एक बुद्धिमत् कारणको सिद्ध करता है या अनेकको ? प्रथमपक्षमें हेतु अनैकान्तिक है तथा द्वितीय पक्षमें सिद्धसाधन दोष आता है ।

§ ३५. बुद्धिमन्निमित्तत्वको जगत्कर्तृत्व सिद्ध करनेके लिए हेतु माननेपर और भी अनेक दोष आते हैं । इसलिए ठीक ही कहा है कि वैशेषिकशासन इष्टविरुद्ध भी है ।

[नैयायिकशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ १. प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदिके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है ।

§ २. भक्तियोग, क्रियायोग तथा ज्ञानयोगसे सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सायुज्य मुक्ति होती है ।

§ ३-५. महेश्वरमें स्वामी-सेवक भाव रूपसे तच्चित्त होकर जीवनभर उसकी परिचर्या करना भक्तियोग है, इससे सालोक्य मुक्ति होती है । तप, स्वाध्याय, अनुष्ठान आदि क्रियायोग है । इससे सारूप्य या सामीप्य मुक्ति होती है । परमेश्वर-तत्त्वका अनवरत चिन्तन और पर्यालोचन ज्ञानयोग है; इसके यम नियम आदि आठ अंग हैं, इससे सायुज्य मुक्ति होती है ।

[उत्तरपक्ष]

§ ६. वैशेषिकशासनमें जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान विरोध ऊपर प्रदर्शित किया गया है उसी तरह उक्त दोनों ही प्रकारका विरोध इस शासनमें भी आता है, अतः पुनः यहाँ नहीं दुहराया गया ।

§ ७. हाँ, इतना यहाँ विशेष ज्ञातव्य है कि नैयायिकोंके द्वारा माने गये पदार्थोंमें-से इन्द्रिय, बुद्धि और मन अर्थोपलब्धिके साधक होनेसे प्रमाण-कोटिमें आते हैं, इस कारण प्रमेयोंमें उनका समावेश नहीं हो सकता । संशयादिको प्रमेयभिन्न माननेपर उनकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी । इसके अतिरिक्त विपर्यय तथा अनध्यवसायकी षोडश पदार्थोंसे पृथक् प्रतीति होनेके कारण नैयायिकोंकी षोडशपदार्थ-व्यवस्था नहीं बनती ।

§ ८. इस प्रकार नैयायिक और वैशेषिक सिद्धान्त दृष्टेष्ट विरुद्ध होनेसे उनका प्रतिपादक आगम भी प्रमाण नहीं बनता । इसलिए उनका लौकिक तथा वैदिक सभी कथन मिथ्या है ।

[मीमांसक या भाट्टप्राभाकरशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्ष]

§ १. मीमांसकोंके मुख्यतया दो संप्रदाय हैं—भाट्ट और प्राभाकर । इनमें भाट्टोंकी मान्यता इस प्रकार है—

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, दिक्, काल, आकाश, आत्मा, मन, शब्द और तम ये ग्यारह ही पदार्थ हैं । तदाश्रित गुण, कर्म आदि इन्हीं पदार्थोंके स्वभाव होनेसे पदार्थान्तर नहीं हैं । इस तरह पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानसे कर्मोंका नाश होता है ।

§ २. प्राभाकरोंकी मान्यता इस प्रकार है—

द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति, संख्या, सादृश्य, शक्ति, समवाय और क्रम ये नव ही पदार्थ हैं। इनमें पृथ्वी आदि द्रव्य हैं, रूपादि गुण हैं, उत्क्षेपण आदि क्रिया है, सत्ता, द्रव्यत्व आदि जाति है, एक, दो आदि संख्या है, गोका प्रतियोगी गवयगत और गवयका प्रतियोगी गोगत सादृश्य है; सामर्थ्यको शक्ति कहते हैं, गुण और गुणी आदिका सम्बन्ध समवाय है; एकके बाद दूसरा, यह क्रम है; ये नव ही पदार्थ हैं; इनके यथार्थज्ञानसे निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि होती है।

§ ३. वेद पढ़कर, उसके अर्थको जानकर, उसमें बताये गये नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध अनुष्ठानका क्रम निश्चित करके तदनुसार प्रवृत्ति करनेपर स्वर्ग और अपवर्गकी सिद्धि होती है।

§ ४. मुमुक्षुको प्रव्रज्या लेनी ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, तत्त्वज्ञाननिष्ठ, अतिथिप्रिय, श्राद्ध करनेवाला, सत्यवादी गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

§ ५. भाट्टोंके अनुसार मोक्षार्थीको काम्य और निषिद्ध अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। प्राभाकरोंके अनुसार करना चाहिए।

[उत्तरपक्ष]

§ ६. यह मीमांसक मत दृष्ट (प्रत्यक्ष) विरुद्ध है। भाट्ट तथा प्राभाकरोंके अनुसार पृथिव्यादि अर्थ सत्तासामान्यके द्वारा जाने जाते हैं। उन्होंने सत्तासामान्यको नित्य, निरवयव, एक और व्यापक माना है। यह प्रत्यक्षविरुद्ध है; क्योंकि इस तरहके सामान्यकी कहीं भी प्रतीति नहीं होती।

§ ७-८. इसके बाद भी यदि हठाग्रहसे वैसा ही माना जाये तो कहेंगे कि एक व्यक्तिमें सर्वात्मना वर्तमान सामान्यकी अन्यत्र वृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि अन्यत्र वृत्तिमें तद्देशगमन आदि जितने भी विकल्प हो सकते हैं वे सभी दोषयुक्त हैं। इस तरह अन्य व्यक्तिमें सामान्यके अभावका प्रसंग आयेगा। कहा भी है—

"न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥"

§ ९. मीमांसकोंका कहना है कि यह दोष भेदवादियोंके यहाँ ही आ सकते हैं; मीमांसकोंने तो सामान्य और व्यक्तिका तादात्म्य माना है, इसलिए उक्त दोष नहीं। यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि व्यक्तिकी तरह सामान्यके भी साधारण और असाधारण रूप माननेका तथा व्यक्तिकी तरह इसके भी उत्पाद-विनाश माननेका प्रसंग आयेगा।

§ १०. सामान्यरूपता ही साधारणरूपता नहीं है। उत्पाद-विनाश भी नहीं बनते, इस तरह विरुद्ध धर्म-बाधा होनेसे व्यक्ति और इसका भेद हो जायेगा।

§ ११-१६. इस प्रकार अनेक दोषयुक्त होनेसे मीमांसकसम्मत सामान्य सिद्ध नहीं होता। [इन वाक्य खण्डोंमें विस्तारके साथ सामान्यका खण्डन है।]

[४] सत्यशासन-परीक्षा तथा अन्य ग्रन्थ

[अ] जैन ग्रन्थ—

[१] तत्त्वार्थसूत्र और सत्यशासन-परीक्षा

तत्त्वार्थसूत्र जैन साहित्यके आद्य संस्कृत साहित्यकार आचार्य उमास्वातिकी महान् कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, प्रमाण, नय, भूगोल आदिका क्रमबद्ध सुव्यवस्थित विवेचन करनेवाला यह प्रथम संस्कृत ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्रपर स्वोपज्ञ[1] भाष्य, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि, भट्ट अकलंकका तत्त्वार्थवार्तिक, श्रुतसागर सूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति आदि अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ हैं। स्वयं विद्यानन्दिने तत्त्वार्थसूत्रके एक-एक शब्दका तार्किक शैलीमें विस्तृत विवेचन करनेवाला तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ लिखा।

---

१. श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार।

सत्यशासन-परीक्षामें बन्धके विषयमें जैनदृष्टिको स्पष्ट करते हुए प्रकारान्तरसे उमास्वातिके सूत्रोंको ही प्रस्तुत किया गया है। तुलनाके लिए देखें—

"स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः,
न जघन्यगुणानाम्,
गुणसाम्ये सदृशानाम्,
द्व्यधिकादिगुणानां तु।"

[तत्त्वार्थसू० अ० ५, सू० ३३-३६]

"तैः (स्याद्वादिभिः) परमाणूनां स्निग्धरूक्षाणामजघन्यगुणानां द्व्यधिकादिगुणानां विजातीयानां सजातीयानां च सक्तुतोयवत् सन्तप्तजतुखण्डवत् कथंचित् स्कन्धाकारपरिणामात्मकस्य संबन्धस्याभ्युपगमात्।"[1]

[२] आप्तमीमांसा और सत्यशासन-परीक्षा

आप्तमीमांसा स्वामी समन्तभद्रकी अमर रचना है। अकलंकने इसपर गूढ़ तर्कशैलीमें अष्टशती नामकी टीका लिखी। विद्यानन्दिने अष्टशतीको पूर्णतः अन्तर्हित करके आप्तमीमांसापर अष्टसहस्री नामक बृहत् टीका लिखी। विद्यानन्दिकी प्रत्येक रचनापर आप्तमीमांसाकी तर्कशैली, भाव और भाषाका स्पष्ट प्रभाव है।

सत्यशासन-परीक्षामें प्रत्येक शासनको दृष्टेष्टविरुद्ध सिद्ध करनेका तर्क विद्यानन्दिको आप्तमीमांसाके निम्न पद्यसे प्राप्त हुआ लगता है—

"त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥"[2]

विद्यानन्दिने इस कारिकामें आये दृष्ट और इष्ट शब्दसे प्रेरणा पाकर सत्यशासन-परीक्षाकी पृष्ठभूमि तैयार की होगी।

विभिन्न प्रसंगोंपर सत्यशासन-परीक्षामें आप्तमीमांसाकी आठ कारिकाएँ उद्धृत हैं।

पुरुषाद्वैतकी समालोचना करते हुए विद्यानन्दिने जो तर्क उपस्थित किये हैं उनकी साक्षीमें आप्तमीमांसाकी चार कारिकाएँ उद्धृत हैं—

[क] अद्वैतकी सिद्धि यदि किसी हेतुसे होती है तो हेतु और साध्यका द्वैत हो जायेगा और यदि हेतुके बिना ही सिद्धि हो जाती है तो वचनमात्रसे द्वैत क्यों नहीं हो जायेगा?

१. "हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥"[3]

[आप्तमी० श्लो० २६]

अद्वैतैकान्त पक्षमें प्रत्यक्षविरोध दिखाते हुए निम्न श्लोकका प्रमाण दिया है—

२. "अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते॥"[4]

[आप्तमी० श्लो० २४]

---

१. सत्य० बौद्ध० § २७
२. आप्तमी० श्लो० ७
३. सत्य० परमब्रह्म० § २०
४. वही : § ३०

अद्वैतका निरास करते समय अनुमान विरोध दिखानेके लिए निम्न कारिकाका प्रमाण दिया गया है—

३. "अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥"[1]

[आप्तमी० श्लो० २७]

प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरोध दिखानेके उपरान्त अद्वैतैकान्त पक्षमें विद्यानन्दिने एक और व्यावहारिक कठिनाई यह बतलायी है कि अद्वैतको माननेपर अद्वैतवादियोंका धर्मानुष्ठान आदि भी नहीं बन सकेगा। इसी बातका विवेचन करके आप्तमीमांसाकी निम्नकारिकाका प्रमाण दिया है—

४. "कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।[2]
विद्या विद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥"

[आप्तमी० श्लो० २५]

[ख] बौद्धशासन-परीक्षामें वृत्तिदोषका निराकरण करते हुए निम्नकारिका उद्धृत की गयी है—

५. "एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥[3]"

[आप्तमी० श्लो० ६२]

[ग] सांख्यशासन-परीक्षामें कूटस्थ-नित्यताका निरास करते हुए आप्तमीमांसाकी दो कारिकाओंके अर्धभाग प्रमाणरूपमें उद्धृत किये हैं—

६. "यदि सत् सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।[4]"

[आप्तमी० श्लो० ३९]

७. "यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत् ॥[5]"

[आप्तमी० श्लो० ४२]

[घ] वैशेषिकशासन-परीक्षामें समवाय सम्बन्धका निराकरण करनेके प्रसंगमें आप्तमीमांसाका निम्न-श्लोकार्ध उद्धृत है—

८. "कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम् ।"[6]

[आप्तमी० श्लो० ६८]

[३] युक्त्यनुशासन और सत्यशासन-परीक्षा

युक्त्यनुशासन भी स्वामी समन्तभद्रकी कृति है। जैसा कि लिखा जा चुका है, जैन न्यायकी पृष्ठभूमि तैयार करनेवाले इस महान् आचार्यका समस्त चिन्तन विद्यानन्दिका उपजीव्य रहा है।

युक्त्यनुशासनपर विद्यानन्दिने युक्त्यनुशासन टीका या युक्त्यनुशासनालङ्कार नामक टीका लिखी। सत्यशासन-परीक्षामें विभिन्न प्रसंगोंपर युक्त्यनुशासनके सात पद्य प्रमाणरूपमें उद्धृत किये गये हैं—

[क] विज्ञानाद्वैतशासन-परीक्षामें बाह्य अर्थका समर्थन करनेके प्रसंगमें अनेक उपपत्तियोंके साथ

---

१. वही : § ३१
२. वही : § ३२
३. सत्य० बौद्ध० § २५
४. सत्य० सांख्य० § १२
५. वही : § १२
६. सत्य० वैशे० § २४

युक्त्यनुशासनका निम्न पद्य उद्धृत किया गया है—

१. "अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद्विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः ।
अथार्थवत्त्वं व्यभिचारदोषो न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥"[1]

[युक्त्यनु० श्लो० १८]

[ख] चार्वाकशासनमें चार्वाकाभिमत सिद्धान्तोंका खण्डन करनेके बाद युक्त्यनुशासनके निम्नलिखित तीन पद्य उद्धृत हैं—

२. "मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा मृदवः प्रलब्धाः ॥
३. दृष्टे विशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रति सत्त्वमेषाम् ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा प्रपातः ॥
४. स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपदेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षा सममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्याः बत विभ्रमन्ति ॥"[2]

[ग] बौद्धशासन-परीक्षामें स्वलक्षणके विवेचन प्रसंगमें युक्त्यनुशासनका निम्न पद्य आया है—

५. "अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावादवाच्यमेवेत्य यथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत् पररूपवाचि स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥"[3]

[युक्त्यनु० श्लो० २९]

इसी परीक्षाके एक अन्य प्रसंगमें अविसंवादी ज्ञानकी प्रमाणताका निरसन करते हुए निम्न पद्य आया है—

६. "प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः कष्टमश्रृण्वतां ते ॥"[4]

[युक्त्यनु० श्लो० २२]

[घ] वैशेषिकशासन-परीक्षामें समवाय सम्बन्धके विषयमें विचार करते समय युक्त्यनुशासनका निम्न पद्य दो बार उद्धृत किया गया है—

७. "अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात् समवायवृत्तेस्संसर्गहानेः सकलार्थहानिः ॥"[5]

[युक्त्यनु० श्लो० ७]

[४] न्यायविनिश्चय और सत्यशासन-परीक्षा

न्यायविनिश्चय जैन न्यायके प्रस्थापक आचार्य भट्ट अकलंककी कृति है। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह इस ग्रन्थकी रचना गद्य-पद्यमें की गयी थी; किन्तु पूरा ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ। पद्य भागपर वादिराजकी न्यायविनिश्चयविवरण नामक टीका है; उसी टीकामें-से पद्योंका संकलन करके पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने इसका सम्पादन किया था।[6]

विद्यानन्दिने अकलंकके सभी शास्त्रोंका अन्तःप्रविष्ट अध्ययन किया था तथा अपने साहित्यका उपजीव्य भी उन्हें बनाया; इसलिए विद्यानन्दिके ग्रन्थोंपर अकलंकके शास्त्रोंकी छाप अस्वाभाविक नहीं है।

---

१. सत्य० विज्ञान० § ११
२. सत्य० चार्वाक० § १९
३. सत्य० बौद्ध० § ४१
४. वही : § १७
५. सत्य० वैशे० § १८, २५
६. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी-द्वारा प्रकाशित ।

सत्यशासन-परीक्षामें न्यायविनिश्चियकी निम्न कारिका भट्ट अकलंकके नामोल्लेखके साथ उदधृत की गयी है—

"तदुक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः—
इन्द्रजालादिषु भ्रान्तिमीरयन्ति न चापरम् ।
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनः ॥"[1]

[न्यायविनि० श्लो० १।५२]

परमब्रह्माद्वैतवादीने भेदावभासी प्रत्यक्षको इन्द्रजाल आदिकी तरह भ्रान्त कहकर अद्वैतको सिद्ध करनेके लिए जो तर्क उपस्थित किया उसका निरसन करते हुए भेदावभासी प्रत्यक्ष तथा इन्द्रजाल आदि प्रत्यक्षका परस्पर भेद दिखाते हुए विद्यानन्दिने उपर्युक्त कारिका उपन्यस्त की है ।

[५] लघीयस्त्रय और सत्यशासन-परीक्षा

लघीयस्त्रय भी भट्ट अकलंककी दार्शनिक कृति है । संस्कृत पद्योंके साथ स्वोपज्ञ विवृति सहित लिखे गये इस ग्रन्थमें प्रमाण, नय और प्रवचनका विवेचन किया गया है ।

लघीयस्त्रयपर आचार्य प्रभाचन्द्रकी 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक विस्तृत टीका है जिसे लघीयस्त्रयालंकार भी कहते हैं ।

सत्यशासन-परीक्षामें लघीयस्त्रयका निम्न पद्य भट्ट अकलंकके नामोल्लेखके साथ उद्धृत किया गया है—

"तथैवोक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः—
यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद्व्याप्नोति वा सकृत् ।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद्व्याप्नोति वा क्रमात् ॥"[2]

[लघीय० श्लो० ३७]

बौद्धशासन-परीक्षाके प्रसंगमें सामान्यका विवेचन करते समय उपर्युक्त पद्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है ।

[६] सिद्धिविनिश्चय और सत्यशासन-परीक्षा

भट्ट अकलंककी महान् दार्शनिक कृतियोंमें सिद्धिविनिश्चय अनन्य कृति है । मूल ग्रन्थके प्राप्त न हो सकनेके बाद भी स्व० डॉ० पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने सिद्धिविनिश्चय टीकाके आधारपर अथक परिश्रम करके मूल ग्रन्थका संयोजन करके पूर्ण समृद्ध संस्करण तैयार किया था ।[3]

सिद्धिविनिश्चयमें विभिन्न १२ प्रकरणोंमें अनेक दार्शनिक विषयोंका विवेचन किया गया है ।

विद्यानन्दिने निःसंदेह अकलंकके अन्य ग्रन्थोंकी तरह सिद्धिविनिश्चयका भी गहन अध्ययन किया होगा । सत्यशासन-परीक्षामें इसका एक पूर्ण पद्य तथा एक आधा पद्य दो प्रसंगोंपर उद्धृत हैं ।

[क] पुरुषाद्वैत या परमब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षामें अविद्याका विचार करते समय अकलंकके नामोल्लेखके साथ निम्न श्लोकार्ध उद्धृत किया है—

"यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ।"[4]

[सिद्धिवि० १।१९]

इस पद्यका पूर्वार्ध निम्न प्रकार है—

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं प्रसन्नाक्षेतरादिषु ।"

[सिद्धिवि० १।१९]

१. सत्य० परमब्रह्म० § १५
२. सत्य० बौद्ध० § ३१
३. भारतीय ज्ञानपीठ, काशीसे दो भागोंमें प्रकाशित ।
४. सत्य० परमब्रह्म० § ३७

[ख] बौद्धशासन-परीक्षामें ज्ञानका अविसंवादित्व समर्थन करते हुए 'तदुक्तम्' कहकर सिद्धिविनिश्चयका निम्न पद्य उद्धृत किया है—

"विषदर्शनवत्सर्वमज्ञस्याकल्पनात्मकम् ।
दर्शनं न प्रमाणं स्यादविसंवादहानितः ॥"[1]

[सिद्धिवि० १।२४]

इस पद्यको पं० महेन्द्रकुमारजीने टीकासे निम्नरूपमें संकलित किया है—

"विषदर्शनवदज्ञस्य [दर्शनमविकल्पकम् ।
न स्यात्प्रमाणं सर्वमविसंवादहानितः ॥[2]

यद्यपि अर्थकी दृष्टिसे दोनों पद्योंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है तो भी निश्चय ही विद्यानन्दिको अकलंकका मूल पद्य प्राप्त रहा होगा ।

[७] यशस्तिलक और सत्यशासन-परीक्षा

यशस्तिलक सोमदेवसूरि (९५९ ई०) का महान् संस्कृत ग्रन्थ है । इसमें यशोधरकी कथाके माध्यमसे कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, धर्म, न्याय, दर्शन आदि अनेक विषयोंका महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है ।

सोमदेवने यद्यपि न तो विद्यानन्दिका ही उल्लेख किया है और न सत्यशासन-परीक्षाका ही; किन्तु सोमदेवने चार्वाकमतके खण्डनमें जो तर्क दिये हैं वे स्पष्ट रूपसे सत्यशासन-परीक्षामें विद्यमान हैं । तुलना कीजिए—

[क] यशस्तिलक—

"सत्यं न धर्मः क्रियते यदि स्याद्गर्भावसानान्तर एव जीवः ।
न चैवम्—
जातिस्मराणामथ रक्षसां च दृष्टेः परं किं न समस्ति लोके ।

[उत्त० ९२]

सत्यशासन-परीक्षा—

"मृतानां केचिद् रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां दर्शनात्, केषांचिद् भवस्मृतेरुपलम्भाच्च ।"

[चार्वाक० § १८]

[ख] यशस्तिलक—

"भूतात्मकं चित्तमिदं च मिथ्या स्वरूपभेदात्पवनावनीव"

[उत्त० ९३]

सत्यशासन-परीक्षा—

"भूतचैतन्ययोः……अभेदे शरीराकारपरिणतावनि-वन-पवन-सख-पवनामप्येकत्वप्रसङ्गात् ।"[3]

[चार्वा० § १७]

[ग] यशस्तिलकमें निम्न दो पद्य नीलपटके नामसे उद्धृत किये गये हैं, जो कि सत्यशासन-परीक्षामें भी पाये जाते हैं ।

१. सत्य० बौद्ध० § १५
२. सिद्धिवि० १।२४
३. विशेष विवरण—यश० उत्त० पृ० २७२, सत्य०, चार्वा० § १७

"स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं सर्वार्थसंपत्करीं,
ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं मुण्डीकृता लुञ्चिताः
केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिनः कापालिकाश्चापरे ॥
पयोधरभरालसाः स्मरविघूर्णिताक्षणाः,
क्वचित्सलयपञ्चमोच्चरितगीतझङ्कारिणीः ।
विहाय रमणीरमूरपरमोक्षसौख्यार्थिना–
महो जडिमडिण्डिमो विफलभाण्डपाखण्डिनाम् ॥"[1]

इनमें-से पहला पद्य भर्तृहरिके शृङ्गारशतकमें पाया जाता है।[2]

[घ] निम्न पद्य भी सत्यशासन-परीक्षा तथा यशस्तिलक दोनोंमें पाया जाता है—

"तदहर्जस्तनेहातो रक्षो दृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात्सिद्धः[3] प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥"[4]

[ङ] चार्वाक सिद्धान्तोंको विद्यानन्दिने जिस तरह उपन्यस्त किया है ठीक उसी तरह सोमदेवने भी।[5] निःसंदेह सोमदेवने विद्यानन्दिके ग्रन्थोंका गहन अध्ययन किया होगा अन्यथा भाव, भाषा और अर्थका इतना साम्य सम्भव न था।

[आ] जैनेतर ग्रन्थ—

[१] छान्दोग्योपनिषद् और सत्यशासन-परीक्षा

विद्यानन्दिने छान्दोग्योपनिषद्के निम्न लिखित दो वाक्य सत्यशासन-परीक्षामें उद्धृत किये हैं—

१. "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"[6] [छान्दो० ६।२।१]

परमब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षाके पूर्वपक्षमें परमब्रह्मकी अद्वैतता सिद्ध करनेके लिए यह वचन प्रमाणत्वेन उपन्यस्त किया गया है।

२. "अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।"[7] [छान्दो० ८।१२।१]

वैशेषिकशासन-परीक्षामें ईश्वर कर्तृत्वका विचार करनेके प्रसंगमें यह वाक्य उद्धृत किया गया है।

[२] मैत्र्युपनिषद् और सत्यशासन-परीक्षा

सत्यशासन-परीक्षाके परमब्रह्माद्वैत प्रकरणमें मैत्र्युपनिषद्का निम्न वाक्य उद्धृत किया गया है—

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म"[8] [मैत्र्यु० ४।६]

यद्यपि यह वाक्य अद्वैतकी सिद्धिके लिए ही प्रयुक्त होता है, फिर भी विद्यानन्दिने इसे द्वैतसिद्धिके समर्थनमें उद्धृत किया है। विद्यानन्दिका तर्क यह है कि 'सर्वम्' अर्थात् संसार तो प्रसिद्ध है; किन्तु 'ब्रह्म' प्रसिद्ध नहीं है; इस तरह प्रसिद्ध और अप्रसिद्धका द्वैत हो जायेगा।

---

१. सत्य०, चार्वाक० § ४; यश० उत्त०, पृ० २५२
२. शृङ्गार० श्लो० ७९
३. 'जीवः' यश०।
४. सत्य०, चार्वाक० § १८; यश० उत्त० २५७
५. विशेष विवरण—यश० उ० पृ० २५२-५३; सत्य० चार्वाक० § १-२
६. सत्य० परमब्रह्म० § ५
७. सत्य० वैशे० § २७
८. सत्य० परमब्रह्म० § २४

[३] बृहदारण्यक और सत्यशासन-परीक्षा

बृहदारण्यकका निम्न वाक्य सत्यशासन-परीक्षामें उद्धृत किया गया है—

"आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"[1]
[बृहदा० २।४।५]

परमब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षाके प्रकरणमें मोक्ष और उसके उपायोंका वर्णन करते हुए श्रवण, मनन और ध्यानका विवेचन किया गया है, वहींपर उपर्युक्त वचनको 'तथैव श्रुतिः' कहकर प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया है।

[४] अमृतबिन्दु उपनिषद् और सत्यशासन-परीक्षा

सत्यशासन-परीक्षाके परमब्रह्माद्वैत प्रकरणमें पूर्वपक्षके रूपमें ब्रह्माद्वैतका विवेचन करते हुए अमृतबिन्दु उपनिषद्का निम्न वाक्य 'तदुक्तम्' कहकर प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया है—

"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"[2]
[अमृतबि० उप० पृ० १२, पृ० १५]

[५] महाभारत और सत्यशासन-परीक्षा

महाभारत भारतीय साहित्यका अतिविश्रुत शास्त्र है। ज्ञान-विज्ञानके इस विशालकाय ग्रन्थसे विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षामें एक पद्य उद्धृत किया है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥"[3] [महाभारत]

चार्वाकशासनके पूर्वपक्षमें आगम, तर्क और धर्म आदिके अभावकी स्थापना करते हुए चार्वाकोंकी ओरसे प्रमाणके रूपमें उपर्युक्त पद्य 'तदुक्तम्' कहकर उद्धृत किया गया है।

[६] भगवद्गीता और सत्यशासन-परीक्षा

महाभारतका विशिष्ट अंश भगवद्गीता एक सारभूत ग्रन्थ है। वैदिक मन्तव्योंका प्रतिनिधित्व करनेपर भी गीता अपने-आपमें एक स्वतन्त्र दर्शन प्रस्तुत करती है। विद्यानन्दिने गीतासे निम्न पद्य उद्धृत किया है—

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥"[4] [भगवद्गी० १५।१]

यह पद्य अद्वैतकी सिद्धिके लिए सत्यशासन-परीक्षाके परमब्रह्माद्वैत प्रकरणमें उद्धृत किया गया है।

[७] ब्रह्मसूत्र और सत्यशासन-परीक्षा

बादरायणका ब्रह्मसूत्र अद्वैतदर्शनका महान् ग्रन्थ है। इसमें अद्वैतका सांगोपांग विवेचन किया गया है। विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षामें परमब्रह्माद्वैतके पूर्वपक्षका प्रतिपादन करनेके प्रसंगमें ब्रह्मसूत्रका निम्न सूत्र बादरायणके नामके साथ प्रमाण रूपमें उद्धृत किया है।

"तथैवोक्तं भगवता बादरायणेन–
जन्माद्यस्य यतः"[5] [ब्रह्मसू० १।१।२]

---

१. सत्य० परमब्रह्म० § ११
२. सत्य० परमब्रह्म० § ६
३. सत्य० चार्वाक० § २
४. सत्य० परमब्रह्म० § २३
५. सत्य० परमब्रह्म० § ७

ब्रह्माद्वैतवादी संसारकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही मानते हैं। दूसरे शब्दोंमें उसे वे ब्रह्मका विवर्त कहते हैं। यही बात प्रतिपादित करके उपर्युक्त सूत्रका प्रमाण दिया गया है।

[८] सांख्यकारिका और सत्यशासन-परीक्षा

ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका सांख्यदर्शनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। संस्कृत पद्योंमें सांख्य सिद्धान्तोंका समग्र विवेचन करनेवाला अपने ढंगका यह अनूठा ग्रन्थ है।

सत्यशासन-परीक्षामें विद्यानन्दिने सांख्यकारिकाकी चार कारिकाएँ सांख्यशासनके प्रसंगमें उद्धृत की हैं। प्रकृतिके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' स कथनकी साक्षीमें निम्न कारिका उद्धृत की है—

१. "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमवष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः साम्यावस्था भवेत्प्रकृतिः ॥"[1]
[सांख्यका० १३]

इस कारिकामें गुणोंके स्वरूपके विषयमें जो विचार किया गया है उनका भी आगे गद्यमें विवेचन किया गया है।

सांख्य संमत सृष्टिक्रमका विवेचन करनेके प्रसंगमें निम्न कारिका उद्धृत है—

२. "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥"[2]
[सांख्यका० २२]

इस कारिकाके विवेचनमें प्रकृतिके प्रधान और बहुधान नाम, महत् और अहंकारका स्वरूप, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पञ्च भूतोंकी सम्यक् व्याख्या की गयी है।

सांख्याभिमत पुरुषके स्वरूपका निरूपण करते हुए निम्न कारिका उद्धृत है—

३. "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः पञ्च ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥"[3]
[सांख्यका० ३]

सांख्याभिमत कूटस्थनित्यताका निरास करते हुए प्रसंगवश सत्कार्यवादका समर्थन करनेवाली निम्न कारिका उद्धृत की है—

४. "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥"[4]
[सांख्यका० ९]

[९] न्यायसूत्र और सत्यशासन-परीक्षा

न्यायसूत्र न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तोंका विवेचन करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण सूत्रग्रन्थ है। इसपर वात्स्यायनका न्यायभाष्य तथा उद्योतकरका न्यायवार्तिक महत्त्वकी टीकाएँ हैं।

विद्यानन्दिने अपने ग्रन्थोंमें न्यायसूत्रके अनेक सूत्रोंको उद्धृत किया है। सत्यशासन-परीक्षामें नैयायिक तथा वैशेषिकशासनोंके प्रसंगमें न्यायसूत्रके चार सूत्र उद्धृत किये गये हैं—

---

१. सत्य० सांख्य० § १
२. वही, § २
३. वही, § ४
४. वही, § १२

१. "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।"[1]
[न्यायसू० १।१।१]

यह सूत्र नैयायिकशासनके पूर्वपक्षमें नैयायिकाभिमत सामग्रीको प्रस्तुत करनेके ध्येयसे उद्धृत किया गया है।

२. "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावादपवर्गः ।"[2]
[न्यायसू० १।१।२]

यह सूत्र वैशेषिकाभिमत मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए वैशेषिकशासनके पूर्वपक्षमें उद्धृत किया गया है।

३. "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।"[3] [न्यायसू० १।१।१६]

यह सूत्र वैशेषिक दर्शनके समवाय सिद्धान्तका निरसन करनेके प्रसंगमें उद्धृत किया गया है।

४. "यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ।"[4] [न्यायसू० १।१।३०]

यह सूत्र वैशेषिकशासनमें ईश्वरकर्तृत्वका विचार करते समय प्रसंगवश अधिकरणसिद्धान्तके स्वरूपको द्योतित करनेके लिए उद्धृत किया गया है।

उपर्युक्त चारों ही सूत्रोंके साथ न तो ग्रन्थका नाम आया है न कर्ताका।

[१०] सौन्दरनन्द और सत्यशासन-परीक्षा

सौन्दरनन्द महाकाव्य बौद्धदर्शन तथा संस्कृत-साहित्यका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। साहित्यकी रस और अलंकारपूर्ण शैलीमें अश्वघोषने सर्वप्रथम बौद्ध चिन्तनको जनमानस तक पहुँचानेका प्रयत्न किया।

विद्यानन्दिने सौन्दरनन्दके निम्नलिखित दो पद्य सत्यशासन-परीक्षामें उद्धृत किये हैं—

१. "दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
२. जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् मोहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥"[5]
[सौन्दर० सर्ग १६, श्लो० २८, २९]

उपर्युक्त दोनों पद्य बौद्धाभिमत मोक्षका विवेचन करनेके लिए बौद्धशासन-परीक्षाके पूर्वपक्षमें प्रमाण रूपसे 'तदुक्तम्' कहकर उद्धृत किये गये हैं।

[११] प्रशस्तपादभाष्य और सत्यशासन-परीक्षा

प्रशस्तपादभाष्य कणादके वैशेषिकसूत्रपर आचार्य प्रशस्तपाद-द्वारा लिखा गया भाष्य है। इसमें विस्तारके साथ वैशेषिक सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है। प्रशस्तपादभाष्यपर व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीका है। इस टीकाके साथ भाष्य भी सूत्रग्रन्थ-सा बन गया है।

सत्यशासन-परीक्षामें विद्यानन्दिने प्रशस्तपादभाष्यके अनेक सूत्र वैशेषिकदर्शनके प्रकरणमें उद्धृत किये हैं।[6]

[१२] शृङ्गारशतक और सत्यशासन-परीक्षा

महाकवि भर्तृहरिके तीन शतक १. नीतिशतक, २. शृङ्गारशतक, ३. वैराग्यशतक प्रसिद्ध हैं।

---

१. सत्य० नैया० § १
२. सत्य० वैशे० § ४
३. वही § २४
४. वही § ३५
५. सत्य० बौद्ध० § ५
६. सत्य० वैशे० § १-३, प्रश० भा० पृ० ६,८,१०-१६

विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षामें शृङ्गारशतकका निम्न पद्य उद्धृत किया है—

"श्रीमुद्रां कुसुमायुधस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीम्,
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः,
केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे॥"[1]

[शृङ्गारशतक ७९]

चार्वाक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हुए इस पद्यको अन्य पद्योंके साथ 'तथैवोक्तम्' कहकर उद्धृत किया गया है।

[१३] मीमांसा-श्लोकवार्तिक और सत्यशासन-परीक्षा

मीमांसकधुरीण कुमारिलभट्टका मीमांसा-श्लोकवार्तिक मीमांसादर्शनका मूर्धन्य ग्रन्थरत्न है। संस्कृतके अनुष्टुप् पद्योंमें मीमांसादर्शनके सिद्धान्तोंका तर्कशैलीमें सांगोपांग विस्तृत विवेचन करनेवाला अपनी कोटिका यह अकेला ग्रन्थ है। विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षामें मीमांसासिद्धान्तोंका तो खण्डन किया ही है, खास इस ग्रन्थकी कारिकाओंको उद्धृत करके उनका भी खण्डन किया है। विभिन्न प्रसंगोंपर मीमांसाश्लोकवार्तिक-की पाँच कारिकाओंको उद्धृत किया गया है—

पुरुषाद्वैतशासन-परीक्षामें प्रत्यक्षसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि करते हुए निर्विकल्पकप्रत्यक्षको परमब्रह्मका साधक बताया गया है तथा ज्ञानकी निर्विकल्पताके लिए मीमांसा-श्लोकवार्तिकका निम्न पद्य उद्धृत किया है—

१. "अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानं सदृशं शुद्धवस्तुजम्॥"[2]

[मी० श्लो०, प्रत्यक्ष० श्लो० १२०]

इसी प्रसंगमें सामान्यका खण्डन करते हुए दूसरा निम्न पद्य आया है—

२. "निर्विशेषं न सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।[3]
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥"[4]

[वही : आकृति० श्लो० १०]

मीमांसाशासन-परीक्षामें विभिन्न प्रसंगोंपर निम्न तीन पद्य हैं—

३. "तस्मात् पिण्डेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना।
गवाभासैकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत्॥"

[वही : वन० श्लो० ४४, ४५]

४. "न शाबलेयाद्गोबुद्धिस्ततोऽन्यालम्बनापि वा।
तदभावेऽपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत्॥"

५. "मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥

[वही : संब० श्लो० ११०]

[१४] प्रमाणवार्तिक और सत्यशासन-परीक्षा

प्रमाणवार्तिक बौद्धदर्शनके प्रस्थापक आचार्य धर्मकीर्तिका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। बौद्धन्यायको न्यायशास्त्र-की समुन्नत वेदिकापर लानेका कार्य अकेला प्रमाणवार्तिक कर सकता है। न्यायकी प्रौढ़ एवं तार्किक भाषा

१. सत्य० चार्वाक० § ३
२. सत्य० परमब्रह्म० § १७
३. शशविषाणवत्, इति पाठभेदः।
४. वही § १७

व शैलीमें बौद्धचिन्तनकी सविस्तर और सांगोपांग व्याख्या करनेवाला यह ग्रन्थ भारतीय दर्शनोंको महत्त्वपूर्ण देन है।

सत्यशासन-परीक्षामें विद्यानन्दिने प्रमाणवार्तिकमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका खण्डन किया है। बौद्ध-शासन-परीक्षाके प्रसंगमें प्रमाणरूपमें प्रमाणवार्तिकके निम्न वाक्य उद्धृत किये गये हैं—

१. "अभिप्रायनिवेदनादविसंवादनम्।"[1] [प्र० वा० १।३]

परमाणु प्रत्यक्षका विचार करते हुए निर्विकल्पक प्रत्यक्षको अविसंवादविकल होनेसे अप्रमाण बताया गया है, इसी प्रसंगमें प्रमाणवार्तिकके एक पद्यका यह अन्तिम चरण उद्धृत किया है।

२. "शुक्तौ वा रजताकारो रूपसादृश्यदर्शनात्॥"

[१५] न्यायबिन्दु और सत्यशासन-परीक्षा

न्यायबिन्दु भी बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्तिकी कृति है। सम्पूर्ण बौद्धन्यायका संक्षेपमें परिचय करा देनेवाला यह ग्रन्थ न्यायशास्त्रमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षामें न्याय-बिन्दुका एक सूत्र उद्धृत किया है—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।"[2] [न्यायबि० १।४]

बौद्धशासन-परीक्षाके उत्तरपक्षमें परमाणुप्रत्यक्षका खण्डन करते हुए प्रसंगवश उपर्युक्त सूत्र उद्धृत हुआ है।

[१६] हेतुबिन्दुटीका और सत्यशासन-परीक्षा

हेतुबिन्दु-प्रकरण बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिकी रचना है। इसीपर अर्चटने हेतुबिन्दुटीका नामक टीका लिखी। इसमें आयी हुई निम्नलिखित चार कारिकाएँ विद्यानन्दिने 'तदुक्तम्' कहकर मीमांसाशासन-परीक्षामें उद्धृत की हैं—

"तादात्म्यं चेन्मतं जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता।
नाशेऽनाशश्च केनेष्टस्तद्वच्चानन्वयो न किम्॥
व्यक्तिजन्मन्यजाता चेदागता नाश्रयान्तरात्।
प्रागासीन्न च तद्देशे सा तया संगता कथम्॥
व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च।
तच्छून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम्॥
व्यक्तेर्जात्यादियोगेऽपि यदि जातेः स नेष्यते।
तादात्म्यं कथमिष्टं स्यादनुपप्लुतचेतसाम्॥[3]

[१७] प्रमाणवार्तिकालंकार और सत्यशासन-परीक्षा

प्रमाणवार्तिकालंकार धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकपर लिखा गया संस्कृत भाष्यग्रन्थ है। इसके रचयिता प्रज्ञाकरगुप्तने धर्मकीर्तिके द्वारा प्रमाणवार्तिकमें चर्चित सभी मन्तव्योंका विस्तारके साथ विवेचन किया है। सत्यशासन-परीक्षामें विद्यानन्दिने विज्ञानाद्वैत-परीक्षामें प्रज्ञाकरगुप्त-द्वारा चर्चित विज्ञानमात्रका विस्तारसे खण्डन किया है। निम्नलिखित अनुमान वाक्यको उद्धृत भी किया है—

"सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः, प्रत्ययत्वात्,

१. सत्य० बौद्ध० § ९
२. सत्य० बौद्ध० § ७
३. मीमा० § १०; हेतुबि० टी०, पृ० ३२

स्वप्नप्रत्ययवत्''[1]

[प्रमाण० वार्तिकालं० पृ० ३५९]

[१८] तत्त्वसंग्रह और सत्यशासन-परीक्षा

शान्तरक्षितका तत्त्वसंग्रह बौद्धदर्शनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें-से है। इसमें सभी भारतीय दर्शनोंको पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्थापित करके उनका खण्डन किया गया है। विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षामें तत्त्वसंग्रहसे चार्वाक दर्शनके प्रसंगमें निम्न पद्य उद्धृत किया है—

"सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदस्तयोः कथम् ॥"[2]

[तत्त्वसंग्रह ३१४९]

[१९] ब्रह्मसिद्धि और सत्यशासन-परीक्षा

ब्रह्मसिद्धि आचार्य मण्डनमिश्रकी कृति है। विद्यानन्दिने इसका 'आहुर्विधातृप्रत्यक्षम्' इत्यादि पद्य सत्यशासन-परीक्षाके परमब्रह्माद्वैत प्रकरणमें उद्धृत किया है।[3]

[२०] संबन्धवार्तिक और सत्यशासन-परीक्षा

संबन्धवार्तिक सुरेश्वर मिश्र-द्वारा रचित वेदान्त सिद्धान्तोंका विवेचन करनेवाली एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विद्यानन्दिने सत्यशासन-परीक्षामें इसके आठ पद्योंको परमब्रह्माद्वैत-परीक्षाके प्रकरणमें उद्धृत किया है।[4] इन पद्योंमें नाना विकल्पोंके साथ अविद्याको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है।

[१] ग्रन्थकार-परिचय

विद्यानन्दि और उनका युग

विद्यानन्दिने अपने विषयमें कहीं कोई स्पष्ट जानकारी नहीं दी। उनके शास्त्रोंका अन्तःपरिशीलन करनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि—

आचार्य विद्यानन्दिका आविर्भाव भारतीय दर्शनोंके उस स्वर्ण-कालमें हुआ था जब न्यायशास्त्र अपने पूर्ण यौवनकी उत्ताल-तरंगोंमें मदमाता झूम रहा था। न्यायशास्त्रकी अनेक मान्यताएँ स्थिर हो चुकी थीं। शास्त्रकारोंका उद्देश्य स्पष्ट हो गया था तथा पूर्वाचार्योंने प्रगतिकी एक लम्बी मंजिल तय कर ली थी।

विद्यानन्दिने पाया कि वैदिक, बौद्ध और जैन-न्यायके परस्पर तार्किक घात-प्रतिघातसे मँजकर प्रत्येक दर्शनके अनेक सिद्धान्त स्थिर, निश्चित और सुव्यवस्थित हो गये हैं। जैनदर्शनके जो मूल्य आगमोंमें निर्धारित किये गये थे उनका दोहन करके गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रमें उनका संकलन किया था। समन्तभद्र और सिद्धसेनने शुद्ध तार्किक शैलीमें उनकी प्रतिष्ठा करनेका सूत्रपात किया। उधर दिग्नागने बौद्ध चिन्तनकी ऐसी सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार की, जिसपर धर्मकीर्तिने बौद्धन्यायके महाप्रासादका निर्माण किया। कणाद, जैमिनि, अक्षपाद, वात्स्यायन तथा प्रशस्तपादके क्रमिक चिन्तनसे एक ऐसे धरातलकी रचना हुई कि मीमांसकधुरीण कुमारिलने आते ही दार्शनिक-जगत्में धूम मचा दी। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमें तथा कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकमें सिद्धान्तोंका पारस्परिक खूब खंडन-मंडन किया। जब अकलंकका उदय हुआ, उन्हें जैन-न्यायके सितारे डूबते-से दृष्टिगोचर हुए, किन्तु उन्होंने धर्मकीर्ति और कुमारिलका सामना करनेके

१. सत्य०, विज्ञान० § ११
२. सत्य० चार्वाक० § १
३. सत्य० परमब्रह्म० § १९
४. सत्य० परमब्रह्म० § ३५, सम्बन्धवार्तिक, श्लो० १७५-१८२

लिए जिस उन्नत सुमेरुका निर्माण किया उसकी पृष्ठभूमिमें आगमिक मूल्योंसे लेकर उमास्वाति, समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि सभी आलोकित हो उठे। इन पूर्वाचार्योंके चिन्तनको पल्लवित और पुष्पित करनेवाले अकलंक जैन-न्यायके प्रस्थापक आचार्य सम्राट् बन गये। धर्मकीर्ति और कुमारिलके खण्डनका सयुक्तिक उत्तर देकर अकलंकने जैन-न्यायको भारतीय न्याय-शास्त्रके इतिहासमें मूर्धन्य बना दिया।

अकलंक-न्यायको सम्पूर्ण रूपमें आत्मसात् करनेवाले आचार्य विद्यानन्दिको चिन्तनका एक अपूर्व भाण्डागार विरासतमें मिला। कुन्दकुन्द और उमास्वातिका विशुद्ध तत्त्वज्ञान, समन्तभद्र और सिद्धसेनकी प्रसन्न तर्कशैली तथा भट्ट अकलंकका अपराजेय पाण्डित्य विद्यानन्दिको पैतृक सम्पत्तिकी धरोहरकी तरह प्राप्त हुए। अपनी तलस्पर्शिनी प्रज्ञाके बलपर सुयोग्य उत्तराधिकारीकी तरह एक-एक कणकी सुरक्षाके लिए विद्यानन्दिने एक ऐसे महाप्राकारका निर्माण किया, जिसके सिंहद्वारके सामने पहुँचते ही अभिमानीका मान चूर-चूर हो जाये।

विद्यानन्दि अकलंकके साक्षात् शिष्य रहे हों या नहीं, किन्तु उन्हें अकलंककी जो विरासत मिली उससे वे अकलंकके उत्तराधिकारी अवश्य बन गये। अकलंकका समस्त चिन्तन, भाव, भाषा और शैली विद्यानन्दिकी उपजीव्य बन गयी।

अकलंकको बौद्ध दार्शनिकोंका सामना करनेमें अत्यधिक आयास करना पड़ा था, किन्तु उस आयासके प्रतिघातसे बौद्धन्यायको ऐसा धक्का लगा कि कमसे-कम वह विद्यानन्दिके सामने तो मुँह नहीं हो उठा सका। यही कारण है कि अकलंकके ग्रन्थोंमें बौद्ध सिद्धान्तोंका जितना खण्डन है, उतना विद्यानन्दिके ग्रन्थोंमें नहीं।

विद्यानन्दिको सम्भवतया धर्मकीर्तिके शिष्योंकी अपेक्षा कुमारिलके उत्तराधिकारियोंसे अधिक निपटना पड़ा; यही कारण है कि विद्यानन्दिका शास्त्र मीमांसा और वैशेषिक सिद्धान्तोंके खण्डनसे भरा पड़ा है।

इतना होनेके बाद भी सम्भवतया विद्यानन्दिको परवादियोंका उतना मुकाबला नहीं करना पड़ा जितना अकलंकको करना पड़ा था; इसी कारण अकलंकके द्वारा प्रस्थापित प्रमेयोंको विस्तारके साथ समझानेका उन्हें पर्याप्त अवसर प्राप्त हो गया। अकलंकके एक-एक शब्दको विद्यानन्दिने अपनी प्रज्ञाके प्रकाशसे ऐसा आलोकित कर दिया कि युगों-युगों तक वह आकाश-दीपका काम करता रहे।

जिस युगमें विद्यानन्दिका आविर्भाव हुआ उस युगमें शास्त्र-रचनाकी एक विशेष शैली निश्चित हो चुकी थी। किसी भी अन्य दर्शनके सिद्धान्तको पूर्वपक्षके रूपमें अपने ग्रन्थमें प्रस्थापित करके उत्तरपक्षमें उसका खण्डन करना तथा तत्पश्चात् स्व-सिद्धान्तका स्थापन करना। शास्त्र-रचनाकी इस पद्धतिने दार्शनिक असहिष्णुताके उस युगमें भी शास्त्रकारको अन्यान्य दर्शनोंका अध्ययन करना अनिवार्य बना दिया था। इस अनिवार्यताका भी विद्यानन्दिके व्यक्तित्वनिर्माणमें उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान मानना चाहिए जितना अकलंककी धरोहरका।

विद्यानन्दिने अपने युगकी इस अनिवार्य आवश्यकताको दृष्टिमें रखते हुए प्रत्येक दर्शनके मूल ग्रन्थोंका अन्तःप्रविष्ट अध्ययन किया और उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंके लचीलेपनको सामने लाकर उसपर तर्कका भयंकर वज्र-प्रहार किया।

विपुल विमल प्रज्ञाके धनी इस महान् दार्शनिकका चिन्तन अपने युगपर सहस्ररश्मिके प्रकाशकी तरह ऐसा छा गया कि भारतीय चिन्तनके इतिहाससे उसे ओझल करनेकी कल्पना-मात्रसे भी सम्पूर्ण ज्ञानाकाश तिमिराच्छन्न-सा होने लगता है।

[२] विद्यानन्दिका समय

आचार्य विद्यानन्दिने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपने समयका निर्देश नहीं किया इसलिए उनके ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षण तथा अन्य पूर्वोत्तर आचार्योंके उल्लेखोंके आधारपर उनके समयका निर्णय किया जाता है।

आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावनामें पं० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्यने इस तरहसे सुन्दर विचार किया है, उसीका सार नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

पूर्वावधि—

१. न्यायसूत्रपर लिखे गये वात्स्यायन (ई० ३-४ शती) के न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्याय-भाष्यपर रचे गये उद्योतकरके न्यायवार्तिकका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०५, २०६, २८३, ३०९) में नामोल्लेखपूर्वक तथा बिना नामके सविस्तर समालोचन किया है। उद्योतकरका समय ६०० ई० माना जाता है, इसलिए विद्यानन्दि ६०० ई० के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

२. विद्यानन्दिने जैमिनि, शबर, कुमारिलभट्ट और प्रभाकरके सिद्धान्तोंका अपने ग्रन्थोंमें खण्डन किया है। कुमारिल तथा प्रभाकरका समय ईसाकी सातवीं शताब्दी (ई० ६२५ से ६८०) है। अतः विद्यानन्दि ६८० ई० के पश्चाद्वर्त्ती हैं।

३. विद्यानन्दिने कणादके वैशेषिक सूत्र तथा उसपर लिखे गये प्रशस्तपादभाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्य-पर रची गयी व्योमशिवाचार्यकी टीकाका आप्तपरीक्षा (पृ० २४, २५, १०६, १०७, १४९) में खण्डन किया है। व्योमशिवाचार्यका समय ई० सातवीं शतीका उत्तरार्ध (६५० से ७०० ई०) माना जाता है, अतः विद्यानन्दि ७०० ई० के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते।

४. धर्मकीर्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तरका अष्टसहस्री (पृ० ८१, १२२, २७८), प्रमाणपरीक्षा (पृ० ५३) में खण्डन किया है। धर्मोत्तरका समय ई० ७२५ माना जाता है, अतः विद्यानन्दि ७२५ ई० के पश्चाद्वर्त्ती हैं।

५. अष्टसहस्री (पृ० १८) में मण्डनमिश्रका नामोल्लेखपूर्वक तथा श्लोकवार्तिक (पृ० ९४) और सत्यशासन-परीक्षा (पुरुषा० § १९) में उनकी ब्रह्मसिद्धिकी 'आहुर्विधातृप्रत्यक्षम्' कारिकाको उद्धृत किया है। शंकराचार्यके प्रधान शिष्य सुरेश्वरके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक (३-५) से अष्टसहस्री (पृ० ९३, १६१) में पद्य उद्धृत किये हैं। मण्डनमिश्रका समय ई० ६७० से ७२० तक और सुरेश्वरका समय ई० ७८८ से ८२० तक समझा जाता है।

विद्यानन्दिके ग्रन्थोंमें सुरेश्वरसे उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थ या ग्रंथकारका उल्लेख नहीं है। अतएव ८२० ई० विद्यानन्दिकी पूर्वावधि मानना चाहिए।

उत्तरावधि—

६. वादिदेवसूरिने अपने पार्श्वनाथचरित (श्लो० २८) और न्यायविनिश्चयविवरण (प्रशस्ति २) में आचार्य विद्यानन्दिकी स्तुति की है। वादिदेवका समय ई० सन् १०२५ सुनिश्चित है, अतः विद्यानन्दि १०२५ ई० के पूर्ववर्ती हैं।

७. प्रशस्तपादभाष्यपर चार टीकाएँ हैं जिनमें-से विद्यानन्दिने केवल प्रथमका खण्डन किया है अन्यका नहीं। चौथी टीका लक्षणावली उदयनने सन् ९८४ में बनायी, अतः विद्यानन्दि इसके पूर्ववर्ती हैं।

८. उद्योतकरके न्यायवार्तिकपर वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्यटीका है। विद्यानन्दिने उद्योतकरका तो खण्डन किया, किन्तु वाचस्पति मिश्रका नहीं। वाचस्पतिका समय ई० ८४१ है। अतः विद्यानन्दि उसके पूर्ववर्त्ती हैं।

इस तरह अन्तरंग परीक्षण-द्वारा विद्यानन्दिका समय ई० ७७५ से ८४० तक निश्चित होता है। इस समयकी पुष्टिमें और प्रमाण भी विद्यमान हैं—

९. विद्यानन्दि अकलंकके सर्वप्रथम टीकाकार हैं। अकलंकका समय न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार-जीने विशेष ऊहापोहके बाद ई० ७२०-७८० निश्चित किया है, अतः विद्यानन्दि इसके उत्तरवर्ती हैं।

१०. अष्टसहस्रीकी प्रशस्तिमें विद्यानन्दिने कुमारसेनका उल्लेख किया है। कुमारसेन ई० ७८३ के विद्वान् हैं, अतः विद्यानन्दि उसके बादके हैं।

११. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी प्रशस्तिमें निम्न पद्य आया है—

"जीयात्सज्जनताऽऽश्रयः शिव-सुधाधारावधानप्रभुः,
ध्वस्तध्वान्ततातिः समुन्नतगतिस्तीव्रप्रतापान्वितः।
प्रोर्जज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिलमलप्रज्वालनप्रक्षमः ॥"

प्रस्तुत पद्यमें विद्यानन्दिने श्लेषसे शिवमार्ग-मोक्षमार्ग तथा शिवमार द्वितीयका यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय गंगवंशी श्रीपुरुष नरेशका उत्तराधिकारी तथा उसका पुत्र था जो ई० ८१० के लगभग राज्यका अधिकारी हुआ। इसने श्रवणबेलगोलाकी छोटी पहाड़ीपर एक बसदि बनवायी थी, जिसका नाम 'शिवमारन बसदि' था। चन्द्रनाथ स्वामी बसदिके निकट एक चट्टानपर कनडी भाषामें 'शिवमारन बसदि' यह अभिलेख अंकित है।[1] इस अभिलेखका समय भाषालिपिज्ञानकी दृष्टिसे लगभग ८१० माना जाता है।[2] शिवमारने कुम्मडवाडमें भी एक बसदि बनवायी थी।[3] इन प्रसंगोंसे ज्ञात होता है कि शिवमार द्वितीय अपने पिता श्रीपुरुषको ही तरह जैनधर्मका उत्कट समर्थक एवं प्रभावक था। विद्यानन्दिने श्लोकवार्तिककी रचना इसी कालमें की होगी।

१२. इस शिवमारका भतीजा और विजयादित्यका लड़का राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम शिवमारके राज्यका उत्तराधिकारी हुआ तथा ई० सन् ८१६ के आसपास राजगद्दीपर बैठा। विद्यानन्दिने अपने अन्य ग्रन्थोंमें इसका भी उल्लेख किया है—

[क] "स्थेयाज्जातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिल-दुर्नय-द्विषदिभिः सन्नीतिसामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥[4]

[ख] "प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै-
र्विद्यानन्दबुधैरलङ्कृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥"[5]

[ग] "जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः ॥[6]

[घ] "विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै।"[7]

उक्त प्रमाणोंके आधारपर विद्यानन्दिका समय ई० ७७५ से ८४० प्रमाणित होता है।

---

१. शिलालेख : सं० २५६।
२. मिडियावल जैनिज्म : पृ० २४,२५।
३. राइस-मैसूर और कुर्ग : पृ० ४१।
४. युक्त्यनुशासनालंकारप्रशस्ति।
५. वही।
६. प्रमाणपरीक्षा मंगलाचरण।
७. आप्तपरीक्षा : श्लो० १२३।

[३] विद्यानन्दिकी रचनाएँ—

अबतक विद्यानन्दिके निम्नलिखित ग्रन्थोंका परिचय प्राप्त हुआ है—[1]

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह विद्यानन्दिने पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रचा और उसपर गद्यात्मक भाष्य लिखा। यह भाष्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकव्याख्यान, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार और श्लोकवार्तिकभाष्य नामोंसे प्रसिद्ध है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैन सिद्धान्त और दार्शनिक मन्तव्योंका प्रामाणिक विश्लेषण करनेवाला उत्कृष्ट कोटिका ग्रन्थ है। विद्यानन्दिने इसकी रचना करके कुमारिल और धर्मकीर्ति-जैसे धुरंधर तार्किकों-द्वारा जैनदर्शनपर किये गये आक्षेपोंका सयुक्तिक उत्तर दिया तथा जैन-चिन्तनको तर्ककी कसौटीपर कसकर सिद्धान्त-शास्त्रको न्यायशास्त्रकी कोटिमें ला दिया।

इस महान् ग्रन्थका प्रकाशन सर्वप्रथम सेठ रामचन्द्र नाथारङ्गजी-द्वारा सन् १९१८ में हुआ था, उसके बाद कुन्थुसागर जैन ग्रन्थमालासे पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्यकृत हिन्दी अनुवादसहित कई भागोंमें प्रकाशित हो रहा है। निःसंदेह न्यायके ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद अत्यन्त कठिन कार्य है—इस दृष्टिसे अनुवादक अभिनन्दनीय है; किन्तु यदि मूल ग्रन्थका संशोधन सम्यक् प्रकारसे हो जाता तो सोनेमें सुगन्धका काम होता।

२. अष्टसहस्री या देवागमालङ्कार—यह समन्तभद्र विरचित 'आप्तमीमांसा' अपर नाम 'देवागमस्तोत्र' पर लिखा गया विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण भाष्य है। विद्यानन्दिने अत्यन्त कुशलताके साथ अकलंककी अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें अन्तःप्रविष्ट करके 'आप्तमीमांसा' की प्रत्येक कारिकाका व्याख्यान किया है।

अष्टसहस्री न्यायकी प्राञ्जल भाषामें लिखा गया अत्यन्त दुरूह और जटिल ग्रन्थ है। स्वयं विद्यानन्दिने इसे 'कष्टसहस्री' कहा है।[2] अकलंकको अष्टशतीके प्रत्येक पदका हार्द विद्यानन्दिकी अष्टसहस्रीके बिना नहीं समझा जा सकता। मेरा तो यहाँतक विचार है कि समन्तभद्रको समझनेके लिए भी विद्यानन्दिके शास्त्रोंका सूक्ष्म अभ्यास आवश्यक है।

अष्टसहस्रीमें 'आप्तमीमांसा' तथा 'अष्टशती' में चर्चित विषयोंके अतिरिक्त भी अनेक नये विषयोंका विवेचन किया है। विद्यानन्दिकी यह उक्ति केवल गर्वोक्ति नहीं है कि—

> ''श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
> विज्ञायेत ययैव हि स्वसमय-परसमयसद्भावः॥[3]''

अर्थात् हजार शास्त्रोंको सुननेसे क्या, अकेली अष्टसहस्रीको सुन लेनेसे स्व-सिद्धान्त और पर-सिद्धान्तोंका ज्ञान हो जायेगा।

अष्टसहस्रीका प्रकाशन सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्गजी गान्धी-द्वारा किया गया था। वर्तमानमें ग्रन्थ बाजारमें प्राप्त नहीं होता। इसका सुसम्पादित नवीन संस्करण नितान्त आवश्यक है।

अष्टसहस्रीपर लघुसमन्तभद्र (वि० की १३वीं शती) की 'अष्टसहस्री विषमपदतात्पर्यटीका' तथा यशोविजय (वि० की १७वीं शती) की 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामक व्याख्याएँ हैं।

३. युक्त्यनुशासनालङ्कार—यह आप्तमीमांसाकार समन्तभद्रके द्वितीय ग्रन्थ युक्त्यनुशासनपर विद्यानन्दिकी विशद टीका है। इसीलिए इसके युक्त्यनुशासनालंकार तथा युक्त्यनुशासनटीका ये दो नाम प्रसिद्ध हैं।

---

१. श्री पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य-द्वारा आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावनामें दिये गये परिचयके आधारसे।

२. अष्टसहस्री, प्रशस्ति, श्लो० २।

३. अष्टसहस्री, पृ० १५७।

युक्त्यनुशासन ६४ पद्योंका एक संक्षिप्त स्तोत्र है; परन्तु जैसा कि पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्यने लिखा है, इसका प्रत्येक पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येकके व्याख्यानमें एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना हो सकती है। विद्यानन्दिने अपनी व्याख्यामें इन्हीं पद्योंका संक्षेपमें रहस्योद्घाटन किया है।

युक्त्यनुशासनालङ्कारका प्रकाशन वि० सं० १९७७ में 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला'से हुआ था, किन्तु अब अप्राप्य है।

४. विद्यानन्दमहोदय—यह ग्रन्थ अनेक प्रयत्नोंके बाद भी अबतक उपलब्ध नहीं हो सका। स्वयं विद्यानन्दि तथा अन्य आचार्योंके उल्लेखोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि यह विशालकाय एवं बहुविषयचर्चित अपूर्व ग्रन्थ होना चाहिए। स्वयं विद्यानन्दिने श्लोकवार्तिक तथा अष्टसहस्री-जैसे विशालकाय ग्रन्थोंमें चर्चित कई विषयोंको विस्तारके साथ 'विद्यानन्दमहोदय'में देखनेका परामर्श दिया है।[1] वादिदेवसूरिने विद्यानन्दमहोदयकी निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

''महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्।''[2]

इस महान् ग्रन्थके प्राप्त होनेकी आशा और प्रयत्न रखना चाहिए।

५. आप्तपरीक्षा—आप्तपरीक्षामें, जैसा कि इसके नामसे प्रकट है 'आप्त'की परीक्षा की गयी है। न्यायकी शैलीमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके बाद यह पहला मौलिक ग्रन्थ है, जिसमें नैयायिकादिसम्मत ईश्वर, सांख्याभिमत कपिल, बौद्धाभिमत सुगत, अद्वैतके परमपुरुष एवं जैनोंके अर्हन्तकी परीक्षा करके उनमेंसे सच्चे 'आप्त'को सिद्ध किया गया है।

आप्तपरीक्षाकी मूल प्रेरणा आप्तमीमांसा तथा रचनाका आधार निम्न पद्य है—

> ''मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥''[3]

इस पद्यकी निश्चल भूमिकापर आप्तपरीक्षाका विशाल प्रासाद निर्मित हुआ है।

आप्तपरीक्षा सर्वप्रथम पत्रपरीक्षाके साथ 'सनातन जैन ग्रन्थमाला'में १९१३ में प्रकाशित हुई थी; इसके बाद सन् १९३० में जैन-साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बईसे केवल आप्तपरीक्षाका पुनः मुद्रण हुआ। पुनः सन् १९४९ में 'वीरसेवामन्दिर'से पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य-द्वारा सुसम्पादित होकर महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना आदि तथा हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हुई। विद्यानन्दिके सभी ग्रन्थोंके ऐसे प्रामाणिक एवं सर्वोपयोगी संस्करण अपेक्षित हैं।

६. प्रमाणपरीक्षा—जैसा कि इस ग्रन्थके नामसे प्रकट है, इसमें प्रमाणकी परीक्षा की गयी है। प्रमाणका 'सम्यग्ज्ञानत्व' लक्षण करके उसके भेद, प्रभेद, विषय, फल तथा हेतुओंकी विस्तृत एवं सुसम्बद्ध रचना की गयी है। हेतु-भेदोंके निदर्शक कुछ महत्त्वपूर्ण संग्रहश्लोकोंको भी उद्धृत किया गया है जो किन्हीं पूर्ववर्ती जैनाचार्योंके प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दिने इसकी रचना अकलंकदेवके प्रमाणसंग्रह आदि ग्रन्थोंसे प्रेरणा एवं पृष्ठभूमि लेकर की होगी।

प्रमाणपरीक्षा सन् १९१४ में 'सनातन जैन ग्रन्थमाला'से आप्तमीमांसाके साथ मुद्रित हुई थी। इसका हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसाकी तरह सुसम्पादित संस्करण अपेक्षित है।

---

१. ''इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये।''—तत्त्वार्थश्लो०, पृ० २७२।
''यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्दमहोदयात्।''—वही, पृ० ३८५।
''इति तत्त्वार्थालङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च।''—अष्टस०, २९०।

२. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ३४९।

३. आप्तपरीक्षा, का० ३।

७. **पत्रपरीक्षा**—इस ग्रन्थमें पत्रलक्षणोंकी समीक्षा की गयी है तथा जैनदृष्टिसे पत्रका परिष्कृत लक्षण दिया गया है।

पत्रपरीक्षामें विद्यानन्दिने प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमानके अंग बताये हैं। प्रतिपाद्याशयानुरोध से दशावयवोंका भी समर्थन किया गया है, किन्तु ये दशावयव न्यायदर्शनमें प्रसिद्ध दशावयवोंसे भिन्न हैं।[१] विद्यानन्दिकी तर्कप्रधान रचनाओंमें यह सबसे अधिक लघुकाय है। इसका प्रकाशन 'सनातन जैन ग्रन्थमाला'में बनारससे सन् १९१३ में आप्तपरीक्षाके साथ हुआ था।

८. **सत्यशासनपरीक्षा**—प्रस्तुत ग्रन्थ।

९. **श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र**—आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्रकी शैलीमें लिखा गया यह एक ३० पद्योंका स्तोत्र है। देवागमस्तोत्रकी तरह ही दुरूह और जटिल भी है।

इस स्तोत्रका विषय श्रीपुरस्थ भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति है। कपिल आदिमें अनाप्तता बतलाकर पार्श्वनाथमें आप्तता सिद्ध की गयी है और उनके वीतरागत्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्गप्रणेतृत्वकी स्तुति की गयी है।

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र 'वीरसेवामन्दिर'से पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य-द्वारा सम्पादित और अनुवादित होकर सन् १९४९ में प्रकाशित हुआ है। इसके पूर्व सन् १९२१ में मराठी टीका सहित श्री पात्रकेसरीस्तोत्रके साथ प्रकाशित हुआ था।

[६] विद्यानन्दिके समग्र अध्ययनकी आवश्यकता

सत्यशासन-परीक्षाके प्रकाशित होनेके साथ विद्यानन्दिका सभी उपलब्ध साहित्य प्रकाशमें आ चुकता है। अब विद्यानन्दिके कृतित्व और व्यक्तित्वके समग्र अध्ययनकी आवश्यकता है। मेरी इच्छा थी कि सत्यशासन-परीक्षाकी प्रस्तावनामें इस प्रकारकी कुछ सामग्री देता, किन्तु पी-एच० डी० के कार्यमें लगे रहते उतना सब सम्भव न हो सका। भारतीय दर्शनोंका तुलनात्मक अध्येता कोई अन्वेषक यह उत्तरदायित्व सँभाले तो वह निश्चित रूपसे पायेगा कि विद्यानन्दिका चिन्तन एक नहीं कई शोध प्रबन्धोंकी वस्तु है और उसे विद्वत्-समाजके समक्ष प्रस्तुत करके वह केवल उपाधि ही नहीं पायेगा, प्रत्युत साहित्य शास्त्रकी महती श्रीवृद्धि भी करेगा।

—*गोकुलचन्द्र*

१. पत्रपरीक्षा, पृ० १०।

-श्री-

विद्यानन्दि-विरचिता

सत्यशासन-परीक्षा

विद्यानन्दाधिपः स्वामी विद्वद्देवो जिनेश्वरः।
यो लोकैकहितस्तस्मै नमस्तात् स्वात्मलब्धये[१] ॥ १ ॥

§ १. अथ सत्यशासनपरीक्षा। इयमेव परीक्षा यः 'अस्येदमुपपद्यते न वा' इति विचारः। सा च शासनस्य सत्यत्व [1]एवोपपद्यते, तत्रैव विवादात्, वक्तुराप्तत्ववत्। न तु शासनत्वमात्रे, तद[२]भावात्, वक्तृत्वमात्रवत्।

§ २. इह हि पुरुषाद्वैत-शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैत-शासनानि, चार्वाक-बौद्ध-सेश्वर-निरीश्वर-सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरशासनानि, तत्त्वोपप्लवशासनम् अनेकान्तशासनं चेत्यनेकशासनानि प्रवर्तन्ते। न च सर्वाण्यपि तानि सत्यानि भवन्ति, द्वैताद्वैत-भावाभावादि-परस्पर-विरुद्धार्थप्रतिपादनात्। न च तत्र न किंचिदपि सत्यं स्यादित्यारेकितव्यम्; एकान्तानेकान्तयोर्द्वैताद्वैतयोर्भावाभावयोर्वा तेजस्तिमिरयोरिव परस्परं वि[३]प्रतिषिद्धयोर्द्वयोरपि विधिवत् प्रतिषेधस्याप्यसंभवेन अन्यतरस्य नियमेन विधेरुपपत्तेः कस्यचित्सत्यस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात्।

§ ३. तथा च तत्र किं नु खलु[2] शासनं स्यात्सत्यमिति परीक्ष्यते—इदमेव हि सत्यशासनस्य सत्यत्वं नाम यद्दृष्टेष्टाविरुद्धत्वम्। प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणविरुद्धस्यापि सत्यत्वे न किंचिदसत्यं जगति स्यात्। [४]तदविरुद्धस्याप्यसत्यत्वे किमपि न सत्यं स्यात्। अतोऽव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवासंभवाददुष्टमिदं सत्यलक्षणमुपलक्ष्यते।

§ ४. तच्च दृष्टेष्टाविरुद्धत्वमनेकान्तशासने[3] एवेति तदेव सत्यशासनधवीमारोढुमीष्टे[4] एकान्तशासनं तु सर्वमसत्यमेव, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात्। तथाहि—

[परब्रह्माद्वैतशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्षः]

§ ५. तावत्परब्रह्माद्वैतं दृष्टेष्टविरुद्धमेव। इदं हि ब्रह्मवादिमतम्—देशकालाकाराव्यवच्छिन्न-निर्व्यभिचार-सकलावस्थाव्यापिप्रतिभासमात्रम्[5] अखण्डज्ञानानन्दामृतमयं परब्रह्मैकमेवास्ति न तु द्वितीयम्। "**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**" [छान्दो० ६।२।१] इत्याद्याम्नायात्।

१. तुलना—जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तवादिनः। सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः ॥—प्रमाणपरीक्षा मंगलाचरण। २. विवादाभावात्। ३. विरुद्धयोः। ४. प्रमाणाविरुद्धस्य।

1. स्वविदोपपद्यते क०। 2. खिल ख०। 3. शासनावेति ख०। 4. मारोढोमीष्टे क०। 5. मात्रस्वरूपम् ख०, ग०।

§ ६. कथमेकमेव [1]परब्रह्मास्ति, परस्परं भिन्नानां नानात्मनां[१] प्रतीतेरिति चेत्, न, एकस्यापि तस्य भूते भूते [2]व्यवस्थितस्य जलेषु चन्द्रवत् अनेकधा प्रतिभाससंभवात्। तदुक्तम्—

"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥"

[अमृतबि० उप० प० १२ पृ० १५] इति

§ ७. तथा पृथिव्यादयोऽपि न ततस्तत्त्वान्तराणि[२], तद्विवर्तत्वात्। तच्चोच्चावचचराचर-रूपप्रपञ्चस्यास्य ततः[३] एव जन्मादिभावात्। तथैवोक्तं भगवता[3] बादरायणेन—**"जन्माद्यस्य यतः"** [ब्रह्मसू० १।१।२] इति।

§ ८. अथ कथं प्रपञ्चाध्यवसायविध्वंसनकरात् परमपुरुषात् प्रपञ्चस्य जन्मादीति[4] चेत्; न; अनाद्यविद्यासचिवादेव तस्मात्[४]तस्य भावात्।

§ ९. अविद्या तर्हि द्वितीया स्यादिति[5] चेत्; तदसत्; तस्याः[५] सदसत्त्वविचाराभ्यां प्रमाणपदवीमविगाहमानायाः, अनिर्वाच्यत्वात्। तदुक्तम्—

"अनिर्वाच्याऽविद्या-द्वितय-सचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते[6] वियदनिलतेजोऽवनयः।
यतश्चाभूद् विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम्॥"

[ ] इति

§ १०. नन्वेवमपि विवर्तविवर्ते[7] द्वैतस्य भावात् कथमद्वैतसिद्धिरिति चेत्; न; विवर्तानां रज्जौ[8] भुजङ्गाकारवत् मायारूपाणामेव तस्मिन्[६] प्रतिभासनात्। तदप्युक्तम्—

"यस्मिन् रज्जुभुजङ्गवत् त्रिभुवनं भाति भ्रमान्निर्भये।
सोऽहं नित्यनिरामयामृतवपुः संसारसारः[9] परम्॥"

[ ] इति

§ ११. सकलोऽप्येष विवर्तः सत्यामविद्यायां प्रतिभाति, नत्वविद्यानिवृत्तौ। सा चाविद्या-निवृत्तिरेव मोक्षः। तस्य चोपायो ब्रह्मसाक्षात्कार एव। सोऽपि श्रवण-मनन-ध्यानैर्भवति। तथैव श्रुतिः—**"आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** [बृहदा० २।४।५] तथा स्मृतिश्च—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥"

[ ] इति

§ १२. तत्रोपनिषद्वाक्यानां परब्रह्मणि[10] तात्पर्यावधारणं श्रवणम्। श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारणं मननम्। श्रवणमननाभ्यां निश्चितार्थस्य मनसा परिचिन्तनं ध्यानम्। तच्च नित्यानित्य-

१. नानास्वरूपाणां घटपटाद्यर्थानाम्। २. भिन्नतत्त्वानि। ३. परमपुरुषात्। ४. परमपुरुषात्। ५. अविद्यायाः। ६. परमपुरुषे।

1. परमब्रह्म० ख०। 2. —दनेदाताप्र—क०। 3. भगता ख०। 4. जन्मादिति ख०, ग०। 5. तीयस्यादिति ख०। 6. यस्य विय० क०। यस्मैतत् विय० ग०। 7. विवर्ताविवर्ति क०, ख०। 8. रज्जौ क०। 9. दारः क०, ग०। दारा ख०। 10. परमब्रह्मणे ख०।

वस्तुविवेकः शमदमादिसंपत्तिरत्रामुत्र च वैराग्यं मुमुक्षुत्वमिति[1] साधनचतुष्टयसंपन्नस्य संपद्यते। तस्मिंश्च ब्रह्मसाक्षात्कारः। तत्र च परमब्रह्मैकीभावलक्षणमोक्षप्राप्तिरिति।

[उत्तरपक्षः]

§ १३. तदेतदद्वैतैकान्तशासनं प्रत्यक्षविरुद्धम्; प्रत्यक्षेण देशकालाकारभेदविशिष्टानां क्रियाकारकाणां स्थानगमनादिग्रामारामकरितुरगादिरूपाणां नानाबहिरर्थानां तद्विषयविचित्रप्रतिभास-विशेषाणां परमार्थानां परस्परतो व्यावृत्तानां प्रस्फोटमध्यवसायात्[2]। भेदावभासिना च प्रत्यक्षेणा-द्वैतस्य विरुद्धत्वात्। सर्वथैकस्मिन् भेदप्रत्यक्षस्यानुपपत्तेः।

§ १४. नन्वेकस्मिन्नपि [3]क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः संभवात् स्वप्नसंवेदनवत् कथमद्वैतं [प्रत्यक्ष] विरुद्धमिति चेत्, न, स्वप्नसंवेदनस्याप्येकत्वे[4] तद्विरोधस्य तदवस्थत्वात्। तत्रान्यदेव हि क्रियाविशेषसंवेदनं स्ववासनोत्थम्, अन्यदेव च कारकविशेषसंवेदनं[5] प्रत्यक्षम्, न पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसंगात्। जाग्रद्दशायामिव स्वप्नादिदशायामपि पुंसोऽनेकशक्त्यात्मकस्य क्रियाकारकविशेषप्रतिभासवैचित्र्यव्यवस्थितेः। कस्यचिदेकरूपस्यात्मगगनादेरप्यनेकान्तवादिनाम् अनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभासालम्बनत्वा[6]सिद्धेर्विरुद्धमेव तत्प्रत्यक्षेणाद्वैतम्।

§ १५. ननु भेदावभासीदं प्रत्यक्षं भ्रान्तम्, इन्द्रजालादिप्रत्यक्षवदिति चेत्; तदेतद्भ्रान्त-तरम्, उक्तदोषाऽपरिहारात्। सर्वथैकस्मिन् भ्रान्तस्याऽभ्रान्तस्य वा भेदप्रत्यक्षस्य दृष्टान्ताभावेना-संभवात्। भ्रान्तेनापि [१]तेनाद्वैतविरोधस्य तदवस्थत्वात्। यथाकथञ्चिदुक्तमप्येतदयुक्तम्[7], यस्मा-दिन्द्रजालादिकमेव भ्रान्तम्, बाधकसद्भावात्। नहि 'करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनम्' इत्यादि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षं भ्रान्तम्, बाधकाभावादिति बालाबलादयोऽपि प्रतिपद्यन्ते। तदुक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः—

"इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति न चापरम्।
अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः॥"

[न्यायवि० १।५२] इति

§ १६. नन्वत्रापि बाधकमस्त्येवेति चेत्, तदसत्; प्रत्यक्षविषयभेदान्यथाभूतपरमब्रह्माद्वैत-साधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभवात्। विषयान्यथात्वसाधकस्यैव बाधकत्वोपपत्तेः[8] शुक्तौ रजतज्ञानस्य शुक्तिकाज्ञानवत्।

§ १७. ननु च[9] प्रत्यक्षमेव परमब्रह्मसाधकम्, अक्षिविस्फालनानन्तरं निर्विकल्पकस्य सन्मात्रविधिविषयतयोत्पत्तेः, सत्तायाश्च परमब्रह्मस्वरूपत्वात्।

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं[10] प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानं[11] सदृशं शुद्धवस्तुजम्॥"

[मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० १२०]

१. भेदप्रत्यक्षेण।

1. मुमुक्षत्व क०, ग०। 2. प्रस्फुट ग०। 3. क्रियाकारभेद० ख०। 4. –कत्वै तद्वि० क०। 5. कारकः संवेदनम् क०, ख०। 6. –लम्बनात्वा० ख०। –लम्बकत्वा० ग०। 7. तदप्रयुक्तम् क०, ख०। 8. बाधकस्योपपत्ते क०। 9. ग प्रतौ 'च' नास्ति। 10. –नज्ञानम् क०, ख०। 11. –विज्ञानस० ग०।

इति वचनादिति चेत्, तदेतत्सुतरां प्रत्यक्षबाधितम्; सकलविशेषरहितस्य सर्वथा नित्यस्य निरवयवस्य व्यापकस्य सन्मात्रस्य परोपवर्णितस्वरूपस्य जातुचिदप्यननुभवात्। अक्षिविस्फालनानन्तरमपि प्रतिनियतदेशकालद्रष्टव्यत्वादिविशेषविशिष्टस्यैव सत्तादिसामान्यस्य साक्षात्करणात्; अप्रतिनियतदेशस्य द्रष्टुरनन्यस्यादर्शनात्, अन्यथा प्रतीत्यपलापप्रसंगात्। दण्डकुण्डलाद्याकारकुण्डलिनोरिव सामान्यविशेषयोरन्योन्यपरिहारेणावस्थानानुपपत्तेः, अन्यतरस्याभावेऽन्यतरस्याप्यभावाच्च। तदुक्तम्—

"निर्विशेषं न सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च[1] विशेष[2]स्तद्वदेव हि ॥"

[मी० श्लो० आकृति० श्लो० १०] इति

§ १८. ततो न प्रत्यक्षं परमब्रह्मसाधकं प्रत्युत तद्बाधकमेव स्यात्, विधिवत् परस्परव्यावृत्तेरप्यध्यक्षतः प्रतीतेः।

§ १९. ननु न प्रत्यक्षमद्वैतबाधकं[3] तस्य विधातृत्वेन निषेद्धृत्वाभावात्।

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।
नैकत्व आगमस्तेन[4] प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥"

[ब्रह्मसिद्धिः]

इति वचनादिति चेत्; तदसंगतम्; प्रतिनियतार्थविधिविषयस्य प्रत्यक्षस्यागमस्य वा निषेद्धृत्वोपपत्तेः, केवलविधिप्रतिपत्तेरेव अन्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्, केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिरूपत्वसिद्धेः। नह्ययं प्रतिपत्ता किंचिदुपलभमानः पररूपैः संकीर्णमुपलभते, यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः[२] साध्यते[5]। ततो विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यञ्चेति नियमस्यासंभवः, अन्यथा ततो विद्यावदविद्याविधानानुषंगात्। सोऽयमविद्याविवेकेन सन्मात्रं कुतश्चित् प्रतीयन्नेव[6] 'न निषेद्धृ प्रत्यक्षमन्यद्वा' इति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं वा [7]प्रत्यक्षादेर्निषेद्धृत्वाभावं प्रतीयात् ? यतस्त[३]त्प्रतिपत्तिः तस्यैवाऽभावविषयत्वसिद्धेः। प्रत्याक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धृत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्; तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं तस्य[४]। तथा च प्रत्यक्षेणाद्वैतैकान्तो बाध्यत एवेति कथं तत्तस्य[५] साधकं स्यात् ?

§ २०. नन्वनुमानं तत्साधकमस्ति—'विवादापन्नं सर्वं प्रतिभासान्तः[8]प्रविष्टम्, प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात्, यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्; यथाप्रतिभास[9]स्वरूपम्, प्रतिभाससमानाधिकरणं च सर्वम्' इति[10]निर्दुष्टत्वाद्धेतोः प्रतिभासमात्ररूपपरमब्रह्मसिद्धिरिति चेत्; तदेतत् स्ववधाय[11] [६]कृत्योत्थापनं ब्रह्मवादिनाम्, प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः सर्वस्य

१. विधिविषयकत्वेन। २. परमपुरुषनिषेधः। ३. विधातृत्व। ४. प्रत्यक्षस्य। ५. अद्वैतस्य। ६. कृत्या—पिशाचिनीति। "कृत्याशब्देनाथर्वमन्त्रैः पावके होमविधानेन कृतेन पुरुषो यो निष्क्रामति सः कर्तुः शत्रुं व्यापादयति यदि वा „शत्रुर्बलवान् भवति जपहोमदानैस्तदा सा येनोत्थापिता तमेव विनाशयति।"—नीतिवा० सं० टी० पृ० १३५।

1. –तत्वाभविशे—क०। 2. विशेषास्त० ख०। 3. –क्षद्वैत क०, ख०। 4. –मस्ति न क०। 5. साध्येत ग०। 6. प्रतिपन्नेव ख०, ग०। 7. प्रत्यक्षाधे नि–क०। 8. –भासतः क०, ख०। 9. भासः स्व–क०, ख०। 10. निर्गुष्टाद्हेतोः क०। निर्दुष्टाद्धेतोः ख०, ग०। 11. सवधायदाकृत्यो–क० –धायधाय–ख०।

प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन[1] पुरुषाद्वैतसिद्धौ हेतुसाध्यद्वैतस्य दुर्निवारत्वात्। तदुक्तं स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥"

[आप्तमी० श्लो० २६] इति

§ २१. ननु हेतोरद्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति, तादात्म्योपगमात्। न च तादात्म्ये साध्यसाधनयोस्तद्भावविरोधः; सत्त्वानित्यत्वयोरपि तथा भावविरोधानुषंगात्। कल्पनाभेदादिह साध्यसाधनधर्मभेदे[१] प्रकृतानुमानेऽपि कथमविद्योपकल्पितहेतुसाध्ययोस्तद्भावविघातः; सर्वथाविशेषाभावादिति[2] चेत्, न; शब्दादौ [3]सत्त्वानित्यत्वयोरपि[4] कथंचित्तादात्म्यात्सर्वथातादात्म्यासिद्धेः,[5] तत्सिद्धौ साध्यसाधनभावविरोधात्। न चासिद्धमुदाहरणं नाम, अतिप्रसङ्गात्। किं च न सम्यगिदं साधनं विरुद्धत्वात्, प्रतिभास-तद्विषयाभिमतयोः[6] कथञ्चिद्भेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तः[7]प्रविष्टत्वाऽसाधनात् स्वविषयस्य। न हि 'शुक्लः पटः' इत्यादावपि[8] सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये [9]सामानाधिकरण्यमस्ति, सर्वथाभेदवत्। 'प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते' इत्यत्रापि न प्रतिभास[10]तत्स्वरूपयोर्लक्ष्यलक्षणभूतयोः सर्वथा तादात्म्यमस्ति; प्रतिभासस्य साधारणाऽसाधारणधर्माधिकरणस्य स्वस्वरूपादसाधारणधर्मात् कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेः, अन्यथा तत्सामानाधिकरण्यायोग्यात्[11] 'सुवर्णं सुवर्णम्' इति यथा, सह्यविन्ध्यवद्वा[12]। तदेवं[13] यत् प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासात् कथञ्चिदर्थान्तरम्; यथा प्रतिभासस्वरूपम्; प्रतिभाससमानाधिकरणं च सुखनीलादि सर्वमिति साध्यविपरीतसाधनात् हेतोर्नाद्वैतसिद्धिः।

§ २२. अथागमस्तत्साधकोऽस्त्येव **"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म"** [मैत्रा० ४।६] इत्याद्यागमस्य परमब्रह्मसाधकस्य सद्भावादिति चेत्, तदपि स्ववधाय कृत्योत्थापनमेव, अद्वैत-तदागमयोर्द्वैतप्रसंगात्।

§ २३. यदि पुनरागमोऽप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो व्यतिरिक्तो येन द्वैतमनुषज्यते इति मतम्,

"ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥"

[भगवद्गी० १५।१]

इति वचनात्। तदा[14] ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं[15] स्यात्, [16]सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य सिद्धत्वविरोधात्, सिद्धाऽसिद्धयोर्भेदप्रसक्तेः।

§ २४. किंच **"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म"** [मैत्रा० ४।६] इत्याद्याम्नायादपि द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, सर्वस्य प्रसिद्धस्याऽप्रसिद्धेन ब्रह्मत्वेन विधानात्। सर्वथा प्रसिद्धस्य [17]विधानायोगादप्रसिद्ध-

१. सत्त्वमसत्त्वव्यावृत्त्यात्मकम्, अनित्यत्वञ्च नित्यव्यावृत्त्यात्मकमिति व्यावृत्तिभेदात्तयोर्भेदे।

1. –प्रतिविष्टत्वेन क०। 2. सर्वथाविशेषादिति क०। 3. सत्या क०, ख०। 4. –नित्ययोः ग०। 5. कथंचित्तादात्म्यासिद्धेः क०। 6. तद्विषायाभि—क०। 7. प्रतिभासतः ग०। 8. इत्यादिनावपि क०, ख०। 9. सामाधिकरण्यमस्ति क०। 10. प्रति तत् क०। 11. योगात् ख०। 12. विन्ध्य क०। 13. तदेव ग०। 14. तथा क०, ख०। 15. –मस्यासि– ग०। 16. सर्वप्य क०। 17. विधानयोगात् क०, ख०।

वत्[१]। क्वचिदात्मव्यक्तौ प्रसिद्धस्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य सर्वात्मस्वनात्माभिमतेषु च विधानात्। द्वैतप्रपञ्चारो[1]पव्यवच्छेदेऽपि तदागमाद् व्यवच्छेद्यव्यवच्छेद[2]कसद्भावसिद्धेः कथमद्वैतसिद्धिः? आम्नायस्य परमब्रह्मस्वभावत्वे न ततस्तदद्वै[३]तसिद्धि.[4] । स्वभाव-स्वभाववतोस्तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः।

§ २५. अथ स्वसंवेदनमेव पुरुषाद्वैतसाधकमिति चेत्; न; स्वसंवेदनात्मनोर्द्वैतप्रसंगात्। न हि स्वसंवेदनमपि साधनमात्मनोऽनन्यदेव; साधनत्वविरोधात्, अनुमानागमवत् साध्यस्यैव साधनत्वोपपत्तेः, प्रकृतानुमानागमयोरिव[5] स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधन[त्व]स्याभावात्।

§ २६. न च पुरुषाद्वैतं स्वतः सिद्ध्यति, विज्ञानाद्वैतवत्, स्वरूपस्य स्वतोगतेरभावात्, अन्यथा कस्यचित्तत्र विप्रतिपत्तेरयोगात्[6], विज्ञानाद्वैतस्यापि प्रसिद्धेरिष्टहानिप्रसंगाच्च[२]।

§ २७. ननु[३] विज्ञानाद्वैतं न स्वतोऽवसीयते, तस्य[४] क्षणिकस्यैकक्षणस्थायितया निरंशस्यैकपरमाणुरूपतया सकृदप्यनुभवाभावादिति चेत्; न, पुरुषाद्वैतस्यापि नित्यस्य सकलकालकलाकलापव्यापितया सर्वगतस्य च सकलदेशप्रतिष्ठिततया सकृदप्यनुभवाभावाऽविशेषात्[7] । 'स्वतःसिद्धं ब्रह्म' इत्युपगमे; द्वैतमपि स्वतःसकलसाधनाऽभावेऽपि किं न सिद्ध्येत्[५]; तत्त्वोपप्लवमात्रं वा नैरात्म्यं वा [8]स्वाभिलापमात्राविशेषा[६]त्? सर्वस्य सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्। एवं [9]परब्रह्मसाधकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्याभावात् भेदग्राहिप्रत्यक्षस्य[10] बाधकाभावो व्यवतिष्ठत एव, [11]एतदन्यस्यापि बाधकस्य अयोगात्।

§ २८. स्यादाकूतम्––विवादापन्नं प्रत्यक्षादि मिथ्यैव, भेदप्रतिभासत्वात्, स्वप्नप्रत्यक्षादिवदिति; तदसत्; प्रकृतानुमाने पक्ष-हेतु-दृष्टान्तभेदप्रतिभासस्याऽमिथ्यात्वे तेनैव[12] हेतोर्व्यभिचारात्। तन्मिथ्यात्वे तस्मादनुमानात् साध्याऽप्रसिद्धेः। पराभ्युपगमात् पक्षादिभेदप्रतिभासस्याऽमिथ्यात्वेऽपि न दोषः इति चेत्; न; स्वपराभ्युपगमभेदप्रतिभासेन व्यभिचारात्। तस्यापि पराभ्युपगमान्तराद[13]मिथ्यात्वाद्दोषाभावे स एव तद्भेदप्रतिभासेन व्यभिचारः[14] इति न क्वचिद्व्यवतिष्ठेत्।

§ २९. कश्चिदाह—ब्रह्माद्वैतस्यामिथ्यासविन्मात्रस्य[15] स्वतः सिद्धस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां [16]बाधकस्याभावात्तेषां[६] भ्रान्तत्वं ततो न तद्विरोधकत्वमिति; तदपि न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात्, द्वैतसिद्धिप्रसंगात्।

---

१. यथा सर्वथाऽप्रसिद्धं खरविषाणादि न विधीयते । २.–तुलना–"तद्धि संवेदनाद्वैतं न तावत्स्वतः सिद्ध्यति पुरुषाद्वैतवत्, स्वरूपस्य स्वतोगतेरभावात्, अन्यथा कस्यचित्तत्र विप्रतिपत्तेरयोगात्, पुरुषाद्वैतस्यापि प्रसिद्धेरिष्टहानिप्रसङ्गाच्च।" –आप्तप० पृ० १८२। ३.–तुलना–"ननु च पुरुषाद्वैतं न स्वतोऽवसीयते, तस्य नित्यस्य सकलकालकलापव्यापितया सर्वगतस्य च सकलदेशप्रतिष्ठिततया वाऽनुभवाभावादिति चेत्; न, संवेदनाद्वैतस्यापि क्षणिकस्यैकक्षणस्थायितया निरंशस्यैकपरमाणुरूपतया सकृदप्यनुभवाभावाविशेषात्।" –आप्तप० पृ० १८२। ४. यथा हि विज्ञानाद्वैतवादिनोक्तम्—"स्वरूपस्य स्वतोगतेः" [प्र० वा० १।५] इति नोपपद्यते तथैव । ५. कथं न सिद्ध्येत्? ६. क्रियाकारकादीनाम्।

1. –शेपो व्य–क०, ख० । 2. –माद् व्यवच्छेदक–ग० । 3. –तदद्वैत० ख० । 4. क० प्रतौ इयं पंक्तिर्नास्ति । 5. –रेव क० । 6. –तिरयो० क०, ख० । 7. क० प्रतौ 'न च पुरुषद्वैतं''' इत्यस्मात् पदादारभ्य'''अविशेषात्' इति पर्यन्तं पाठो नास्ति । 8. —मात्रविशे० क०, ख० । 9. परमब्रह्म ख०, ग० । 10. –प्रत्यक्ष ख० । 11. तदन्यस्यापि ग० । 12. –त्वेनैव । 13. मिथ्याद्दो० क०, ख० । 14. तद्भेदेन व्यभि० ख० । 15. द्वैतस्य संवि० ख० । 16.–कस्यभावात् ख० ।

§ ३०. न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः, [1]परमार्थतस्तदभावापत्तेः। ततः सकलबाधकाभावात् अभ्रान्तेन प्रत्यक्षेण प्रसिद्धोऽयं भेदः कथमद्वैतं न [2]विरुन्ध्यात्। तयोः[१] परस्परविरोधात्। तत एव भेदमद्वैतं विरुन्ध्यादिति चेत्; न; अद्वैतस्याभ्युपगममात्रत्वात्, तत्साधकप्रमाणाभावस्य प्रागेवोक्तत्वात्, भेदस्य [3]च प्रमाणसिद्धत्वात्, तद्ग्राहिप्रत्यक्षस्य बाधकाभावात्, अभ्रान्तत्वेन साधितत्वात्। नहि कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाणसिद्धं क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत्। तदेवं [4]सकलबाधकवैधुर्यादभ्रान्तप्रत्यक्षप्रसिद्धक्रियाकारकभेदः, सोऽयमद्वैतैकान्तपक्षे विरुध्यत एवेति सिद्धं परमब्रह्माद्वैतशासनं प्रत्यक्षविरुद्धमिति। तदुक्तं श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यैः—

> **"अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते।**
> **कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते॥"**

[आप्तमी० श्लो० २४] इति

§ ३१. एतेनैव इष्टविरुद्धं [5]चाद्वैतशासनम्। उक्तं च अद्वैतसाधकानुमानागमाभ्यां[6] द्वैतस्य सिद्धेरुक्तत्वात्। अद्वैतशब्दः[२] [7]स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षः, नञ् पूर्वाऽखण्डपदत्वात्; 'अहेत्वभिधानवत्', इत्यनुमानविरोधाच्च। तदप्युक्तं भगवद्भिः स्वामिभिः

> **"अद्वैतं न विनाद्वैतादहेतुरिव हेतुना।**
> **संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्॥"**

[आप्तमी० श्लो० २७] इति

§ ३२. तथा ब्रह्मवादिनां धर्मानुष्ठानं न प्रतिष्ठामियर्ति, तेषां पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्येतरबन्धमोक्षासंभवात्, तत्त्वोपप्लववादिवत्। तथैव स्वामिनः प्राहुः—

> **"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।**
> **विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा॥"**

[आप्तमी० श्लो० २५] इति

§ ३३. एतेन यदुक्तं वेदान्तवादिभिः 'एकमेव ब्रह्म नानात्मतया दृश्यते, ब्रह्मविवर्ताः पृथिव्यादयः, ब्रह्मप्राप्तिर्मोक्षः, श्रवणादिभिः [8]ब्रह्मसाक्षात्कार' इत्यादि, तत्सर्वं बन्ध्यास्तनन्धयसौरूप्यव्यावर्णन[३]वदुपेक्षामर्हति, केनापि प्रमाणेन ब्रह्मसिद्धेरभावात्, अन्यथा प्रमाणप्रमेय[४]द्वैतप्रसंगात्[9]। भ्रान्तेन प्रमाणेन तत्सिद्धौ स्वप्नोपलब्धधूमादिना परमार्थपावकादिसिद्धिप्रसंगात्। चन्द्रमरीचिजालसन्निधिविशेषात् परिणमज्जल[10]पुद्गलविकारत्वात् परमार्थेनैव प्रतिबिम्बेन चन्द्रप्रतिपत्तेः। भ्रान्तेन प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा ब्रह्माद्वैतसिद्धौ तथा द्वैत-नैरात्म्यादिसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्। तथा[11] द्वैताऽद्वैतयोर्बाधकसाधकाभावाद्वेदान्तिनां दृष्टहानिरदृष्टकल्पनेयं केवलमुपहासाय जायते।

---

१. भेदाभेदयोः। २. तुलना—अष्टस०, १६१ । ३. "एष बन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः। मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा शशशृङ्गधनुर्धरः॥" इत्यादि व्यावर्णनवत्। ४. रूपेण द्वैतप्रसङ्गात्।

1. परमार्थः ग० । 2. –द्वैतं विरु० क०, ग० । 3. –वोक्तत्वात्तस्य च ग० । 4. –क वैधुर्या० ख०, ग० । 5. ग० प्रतौ 'च' नास्ति। 6. –मानाभ्यां क०, ख० । 7. सामिधेय ख० । 8. श्रवणादिना परमार्थभिः ब्रह्म० ग० । 9. –मेयप्रस० क०, ख० । 10. –मज्वलपु० ख० । 11. ततो ख०, ग० ।

§ ३४. किं च, यद्येकमेव [1]परब्रह्मास्ति तर्हि तदेव कुतो न [2]प्रतीतिपथमवतरति, यदि वा प्रपञ्चः खरविषाणवदभावरूपः कुतस्तर्हि स एव 'अहमहमिकतया प्रतीतिपथमापनिपद्यते[3] इति पृष्टः [4]स्पृष्टमाचष्टां परः अविद्यया[5] तथेति चेत्, तदसत्; अविद्याया एव परोपवर्णितस्वरूपाया व्यवस्थापयितुमशक्तेः, विकल्पानतिक्रमात्। अविद्याया असत्त्वे, मिथ्याप्रतीतिहेतुत्वानुपपत्तेः, सत एव अदृष्ट-दोष-संस्कार-[6]यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादेः स्वप्नेन्द्रजालादिमिथ्याप्रतीतिहेतुत्वप्रतिपत्तेः। तस्याः सद्रूपत्वे द्वैतसिद्धिः[7] प्रसक्तेरिति। अविद्यायाः सदसत्त्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वे कथम् 'अविद्या संसार-दशायामस्ति, संसारस्याऽविद्याविलासत्वात्; मुक्तिदशायां तु नास्ति, मुक्तेरविद्यानिवृत्तिरूपत्वात्' इति शिष्यं प्रति प्रतिपाद्येत। तदा[8] तस्याः[2] सदसत्त्वाभ्यां वाच्यत्वसंभवात्। तथा चाप्रतिपादने विनेयानां कथं मोक्षाय प्रवृत्तिः, संसारमोक्षस्वरूपानवबोधात्। 'अनिर्वाच्याऽविद्या' इत्यविद्यास्वरूप-कथनमिदं स्ववचनविरुद्धम्—

"यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मत्पिता।
माता मम भवेद्वन्ध्या स्मरा[3]भोऽनुपमो भवान्॥"

[ ]

इत्यादि वचनवत्। अनिर्वाच्यशब्देनाविद्यानभिधाने चानर्थकवचनतया निग्रहस्थानत्वापत्तेः।

§ ३५. ननु वस्तुन्येव[9] प्रमाणप्रवृत्तिर्नावस्तुनि। ततोऽस्माभिर्वस्तुवृत्तमपेक्ष्याविद्या[10]व्यव-स्थाप्यते। तदुक्तम्—

"ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्।
निरवद्ये[11] च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते॥
नाविद्यास्येत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
[12]ब्रह्म[धारा]त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते॥
यतोऽनुभवतोऽविद्या ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत्।
अतो मानोत्थविज्ञान-ध्वस्तासाप्यन्यथात्मता[13]॥
ब्रह्मण्यविदिते[14] बाधान्नाविद्येत्युपपद्यते।
नितरां चापि विज्ञाते [15]मृषा[धी]र्नास्त्यबाधिता॥
अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः।
वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य[16] नाविद्येति निरूप्यते॥
वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृत्तिर्नहि युज्यते।
अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघातासहिष्णुतः॥
अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमि[17]ष्यते॥"

[संबन्धवा० श्लो० १७५-८१]

१. पुण्यपापरूपकर्म। २ अविद्यायाः। ३. भवान् स्मराभः कामतुल्यकान्तिः तथापि अनुपमः उपमारहितः इति स्ववचनविरुद्धम्।

1. परमब्रह्मास्ति ख०, ग०। 2. -तिप्रथम० क०, ख०। 3. -मापनीपद्यते क०। 4. -ति पृष्टमा-चष्टां क०, ग०। 5. अविद्याया क०। 6. -दोषयन्त्र क०, ख०। 7. द्वैतप्रसिद्धिः ग०। 8. तथा ग०। 9. वस्तुनैव क०, ख०। 10. -मपेक्षावि० क०, ख०। 11. निरविद्ये क०, ग०। 12. ब्रह्माद्वारात्व० क०, ख०, ग०। 13. -थात्मना ख०। 14. विधीते क०। 15. मृषादेर्नास्ति क०। मृषादिर्नास्ति ग०। 16. मस्तुवृत्तमतोपेक्ष ना० क०। 17. -रण इष्यते क०, ख०।

§ ३६. न चैवमप्रामाणिकायामविद्यायां [1]कल्प्यमानायां कश्चिद्दोषः, तस्याः संसारिणः स्वानुभवाश्रयत्वात्। द्वैतवादिन एव दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य प्रमाणबाधितस्य [2]कल्पनायामनेकविधायां बहुविधदोषानुषंगात्। तदप्युक्तम्—

"त्वत्पक्षे बहुकल्प्यं स्यात् सर्वं मानविरोधि च।
कल्प्याऽविद्यैव मत्पक्षे सा [3]चानुभवसंश्रया॥"

[संबन्धवा० श्लो० १८२] इति

§ ३७. इति कश्चित्, सोऽपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात्। नहि प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा[4] स्वीकुरुते।

§ ३८. न च प्रमाणानामविद्याविषयत्वमयुक्तम्; विद्यावदविद्याया अपि कथंचिद् वस्तुत्वात्। तथा विद्यात्वप्रसंगः, इति चेत्; न किंचिदनिष्टम् **"यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।"** [सिद्धिवि० १।१९] इत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात्। बहिःप्रमेयापेक्षया तु कस्यचित् संवेदनस्याविद्यात्वं बाधकप्रमाणावसेयं कथमप्रमाणविषयः, तद्बाधकं पुनरर्थान्यथात्वसाधकमेव प्रमाणमनुभूयत इति वस्तुवृत्तमपेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया।

§ ३९. न च कथंचिद्विद्यावतोऽप्यात्मनः प्रतिपत्तुरविद्यावत्त्वं विरुध्यते यतोऽयं महान् दोषः[5] स्यात्। नाप्यविद्याशून्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य [6]भावात्।

§ ४०. न चाविद्यायामेव स्थित्वा 'अस्येयमविद्या' इति प्रकल्प्यते, सर्वस्य विद्यावस्थाया-मेव अविद्येतरविभागविनिश्चयात्[7], स्वप्नाद्यविद्यादशायां तदभावात्। ततश्चात्माद्वारैवाविद्या अयुक्तिमती। यस्मादनुभवात् 'अविद्यावानहमस्मि' इत्यनुभववानात्मा तत्[8] एव कथंचित् प्रमाणोत्थ-विज्ञानाबाधितादविद्यापि [9]सैवेत्यात्मताविरोधाभावात्। न चात्मनि कथंचिद् [10]विदितेऽप्यविद्येति नोपपद्यते, बाधाविरोधात्। कथंचिद्विज्ञातेऽपि वाऽविद्येति नितरां घटते। विदितात्मन एव तद्बाधकत्वविनिश्चितेः कथंचिद्बाधिताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः।

§ ४१. न च कथंचिदविद्यावानेव नरस्तामविद्यां निरूपयितुं क्षमः, सकलप्रेक्षावद्व्यवहार-विलोपात्। यदपि प्रमाणाघातासहिष्णुत्वमसाधारणं लक्षणमविद्यायाः, तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यमिति[11] न प्रमाणातिक्रान्ता काचिदविद्या नाम, यदभ्युपगमे ब्रह्माद्वैतं न विरुद्ध्यते[12]।

[इति पुरुषाद्वैतशासनपरीक्षा]

१. तुलना—अष्टसह० पृ० १६२-१६३।

1. कल्प० क०। 2. कल्पनाम० क०। 3. सानुभ० क०। 4. -मविद्यां वा ग०। 5. महादोषः ख०। 6. लक्षणभावात् ख०। 7. -गनिश्च० क०। 8. -वाना ततः ख०। 9. सैरेत्या० ख०। 10. विधीयतेप्य० क०। 11. निश्चि० क०। 12. विरुद्धेत् ग०।

[शब्दाद्वैतशासनपरीक्षा]

§ ४२. तदेतेन शब्दाद्वैतमपि निरस्तम्, पुरुषाद्वैतवत्तस्यापि[1] निगदितदोषविषयत्वसिद्धेः। प्रक्रियामात्रभेदात्तद्व्यवस्थानुपपत्तेः, स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात्, स्वतः सिद्ध्ययोगाद्गत्यन्तराभावाच्चेत्यलमतिप्रसंगिन्या कथया । सर्वथैवाद्वैतस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वेनासत्यत्वस्य व्यवस्थिततत्वात् ।

ब्रह्माविद्याप्रमापायात् सर्वं वेदान्तिनां वचः ।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम् ॥
ब्रह्माद्वैतमतं सत्यं न दृष्टेष्टविरोधतः ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम् ॥

[इति शब्दाद्वैतशासनपरीक्षा]

1. द्वैतत्तस्यापि ख० ।

[विज्ञानाद्वैतशासन-परीक्षा]

तथा विज्ञानाद्वैतशासनं दृष्टेष्टविरुद्धम्,

[पूर्वपक्षः]

§ १. तथा हि—तावदिदं खलु विज्ञानाद्वैतिनामिष्टम्, अन्तरङ्गस्य स्वसंविदितज्ञानस्यैव वस्तुता न तु बहिरङ्गस्यार्थस्य, जडस्य प्रतिभासायोगात्,[1] वेद्यवेदकलक्षणस्य परपरिकल्पितस्य व्यभिचारित्वात् ।

§ २. [तत्र[2]] तावत्सौत्रान्तिकपरिकल्पिततज्जन्मताद्रूप्यतदध्यवसायाः न प्रत्येकं वेद्यवेदकलक्षणम्; चक्षुषा[१] समानार्थसमनन्तरवेदनेन[२] शुक्तिकायां रजताध्यवसायेन[३] च व्यभिचारात् । सह वा समानार्थसमनन्तरज्ञानेन, कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे [3]पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन[४] च व्यभिचारात् ।

§ ३. योगाङ्गीकृतं [५]कार्यनिमित्तकारणत्वमपि न तल्लक्षणम्, चक्षुषानेकान्तात् । तथा अन्यपरिकल्पितकार्यकारणभावाख्यप्रभवयोग्यतादिकमपि न तल्लक्षणम्; तेनैव व्यभिचारात्[६] । ततः कस्यचिदपि ग्राह्यग्राहकलक्षणस्यायोगात् सर्वं ग्राह्यग्राहकाकारज्ञानं भ्रान्तमेव । तथा प्रयोगः—यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं भ्रान्तम्, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानम्, तथा च प्रत्यक्षादिकमिति । न हि भ्रान्तप्रत्यक्षादिकं बहिरर्थस्य व्यवस्थापकम्, स्वप्नप्रत्यक्षादेरपि अर्थव्यवस्थापकत्वप्रसंगात् । एवं युक्त्या अनुपपद्यमाना बहिरर्था दृष्टा अपि न श्रद्धेयाः,

"युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे[७] ।"

[ ] इति वचनात् ।

§ ४. बहिरर्थानामेवमसंभवात् संवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना सकलवेद्यवेदक[4]व्यवहाराय कल्प्यते । तदुक्तम्—

"नावनिर्न सलिलं न पावको न मरुन्न गगनं न चापरम् ।
विश्वनाटकविलाससाक्षिणी संविदेव परितो विजृम्भते ॥"

अन्यच्च, [ ] इति

"एक संविदि विभाति भेदधीर्न्नीलपीत[5]सुखदुःखरूपिणी ।
निम्ननाभिरियमुन्नतस्तनी स्त्रीति चित्रफलके समे यथा ॥[6]"

[ ] इति

१. चक्षुषा घटज्ञानं जायते न तु तत् चक्षुर्ग्राहकम् । २. समानार्थे यत् पूर्वज्ञानादुत्पन्नम् अनन्तरज्ञानं तत् पूर्वज्ञानादुत्पन्नम् अथ च पूर्वज्ञानाकारं तथापि नोत्तरं ज्ञानं पूर्वं जानाति, ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकमिति सिद्धान्तात् । ३. शुक्तिकायां रजतमितिज्ञानं रजताध्यवसायि, न च रजते प्रमाणम् । ४. शुक्ले शङ्खे जायमानं पीताकारज्ञानं शङ्खादुत्पन्नं शङ्खाकारमथ च शङ्खाध्यवसायि, न च प्रमाणम् । ५. कार्यं ज्ञानं तन्निमित्तकारणं भवति वेद्यम् । ६. चक्षुरादिना । ७. उद्धृतमिदम्—अष्टश० अष्टसह० पृ० २३४ ।

1. भास योग० ख० । 2. क०, ग० प्रतौ 'तत्र' पदं नास्ति । 3. पिताकार० क० । 4. सकलवेदक० ग० । 5. धीर्नीलपीतसु० ख०, ग० । 6. समा······क० ।

§ ५. तदेवं बहिरर्थाख्यद्वितीयरहितत्वादद्वैतमनुभवसिद्धविज्ञानमात्रमेव व्यवतिष्ठत इति ।

[उत्तरपक्षः]

§ ६. तदेतत् विज्ञानाद्वैतं प्रत्यक्षविरुद्धम्; विज्ञानरूप अन्तरर्थवद् बहिरर्थस्यापि नीलादेः परमार्थस्य प्रत्यक्षेणोपलक्षणात् । भ्रान्तं तत्प्रत्यक्षमिति चेत्; न, बाधकाभावात् । उक्त एव वेद्यवेदकलक्षणाभावो बाधक इति चेत्, तावदेवं वदता योगाचारेण विज्ञानानां क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासंतानत्वमनुमानेनैव व्यवस्थापनीयम्, स्वसंवेदनात्तदसिद्धेः; संविदां क्षणिकत्वेनाऽनन्यवेद्यत्वेन नानासंतानत्वेन नित्यत्वेन च सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेन[1] परमब्रह्मणा ज्ञानवादिना इव[2] स्वसंवेदनाभावात् । अन्यथा ततो[२] ब्रह्मसिद्धेरपि दुर्निवारत्वात् । ततः क्षणिकत्वादिव्य[3]वस्थापनमनुमानेनैवास्तु । तथा च क्षणिकत्वादौ कथंचिद्वेद्यलक्षणं यदि व्यवतिष्ठेत् तदा प्रकृतसंविदां क्षणिकत्वादिसाधनं[4] लैङ्गिकज्ञानेन कृतं स्यान्नान्यथा ।

§ ७. न चानुक्तदोषं वेद्यलक्षणमस्ति, विज्ञानवादिना तज्जन्मादेरनैकान्तिकत्वदोषवचनात् । संवित्क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य[5] तत्संभवे[३] नान्यत्र बहिरर्थे तदसंभवोऽभिधेयः[6] सर्वथा विशेषाभावात् ।

§ ८. अत्रायं प्रयोगः—विमत्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं साक्षात्परम्परया वा स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनम्; ग्राह्यग्राहकाकारत्वात्; संतानान्तराद्यनुमानवत् । विप्लवज्ञानग्राह्यग्राहकाकारित्वेन[7] व्यभिचार इति चेत्; न[8]; संतानान्तरादिसाधनस्यापि व्यभिचारप्रसंगात् । न हि व्यापारव्याहारभे(द)निर्भासो[9] विप्लुतो नास्ति, येनाव्यभिचारिहेतुः स्यात् । यदि जाग्रद्दशाभाविसत्याभिमतव्यापारादिहेतुरव्यभिचारी स्यात्[10] तर्हि [11]तथाविधग्राह्यग्राहकाकारकत्व[12]हेतुरप्यव्यभिचारी भवेत्, तथैव विवक्षितत्वात् ।

§ ९. अथ सत्याभिमतज्ञानेन वासनाभेदो गम्यत[13] इति चेत्; तदन्यत्रापि समानम् । यथैव हि जाग्रद्दशायां बहिरर्थवासनाया दृढतमत्वात् तदाकारज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः; स्वप्नादिदशायां तु तद्वासनाया दृढत्वाभावात्तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो लोकस्य न परमार्थतो बहिरर्थः सिद्ध्यतीति वासनाभेदो गम्यते, तथानुपप्लवदशायां संतानान्तरज्ञानस्य वासनाया दृढतमत्वात् सत्यताभिमानो, अन्यत्र तददार्ढ्यादसत्यताव्यवहार इति वासनाभेदो गम्यताम्, न तु संतानान्तरम् । [४]तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः कथमभ्युपगम्यते; ततः सुदूरमपि गत्वा किंचिद्वेदनं स्वेष्टतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम्[14] । तस्मादयं मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो[15] वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धि इति न किंचिदेतत् । तदेवं वेद्यवेदकाकारत्वसाधनं[16] बहिरर्थवेदनस्य स्वरूपव्यतिरिक्तालम्बनत्वं साधयतीति बाधकबाधनात्[17] न बाधको वेद्यवेदकलक्षणाभावः ।

---

१. बहिरर्थग्राहि । २. स्वसंवेदनात् । ३. वेद्यवेदकभावसंभवे । ४. सन्तानान्तराभ्युपगमे ।

1.–नैकैत्वेन क० । 2.—णा इव क० । 3.–कत्वव्य० क० । 4.–कत्वसा० क० । 5.—दौ कथंचिद् वेदनस्य ख० । 6. —संवोऽभि० ग० । 7.—कारत्वेन ख०, कारकत्वेन ग० । 8.—ग० प्रतौ 'न' पदं नास्ति । 9.—हारभेदो नि० क०, ख० । 10. रव्यभिचारित्वात्तर्हि क० । 11. तथाविद् क० । 12. कारत्व० ख० । 13. वासना गम्यते क० । 14. तत्त्वालम्बन ख०, ग० । 15. संविधानो वा वचनं क० । 16. कारत्व क० । 17.–तीति बाधनात् ख० ।

§ १०. नन्वस्त्येव[1] बहिरर्थप्रत्यक्षस्य बाधकम्, नीलतज्ज्ञानयोरभेदः[2] सहोपलम्भनियमात्[१], द्विचन्द्रवत्, इत्यनुमानस्य तद्बाधकत्वादिति चेत्; न; हेतोर्विरुद्धत्वात् । [3]यौगपद्यार्थे सहशब्दे तन्नियमस्याभेदविरुद्धे नाना(त्वे[२])[4]भावात् । अभेदेऽपि चन्द्रद्वितये भाव इति चेत्; न; तत्रापि यथा प्रतिभासं भेदभावात्[5] । तथा तत्त्वमभेदोऽपि[6] इति चेत्; न, यथातत्त्वं सहोपलम्भस्यापि अभावात् एवं दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः स्यात् । तन्मात्रस्य[३] हेतुत्वे तस्य भेदमात्र एव भावाद्विरुद्ध एव हेतुः स्यात् । तथा—असिद्धश्चायं हेतुः; यतो नर्तक्याद्येकार्थसंगतदृष्टयः परचित्तविदो[7] वा नावश्यं तद्बुद्धिं तदर्थं वा संविदन्तीति हेतोरसिद्धिः, नियमस्यासिद्धेः । नर्तकीरूपस्यापि बहुत्वान्न तन्नियमासिद्धिरिति चेत्; न; तद्रूपस्यैकत्वात् । तत्र सर्वेषां सभासमवायिनां[४] एकवाक्यताप्रतिपत्तेः । व्यामोहादेव कुतश्चित्तत्र तेषामेकवाक्यत्वं वस्तुतो नानैव[५] तद्रूपमिति चेत्, [६]कोशपानादेतत्प्रत्येतव्यं न प्रमाणतः कुतश्चिदपि तदभावात् ।

§ ११. अथ "**सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्**" [प्र० वार्तिकालं० पृ० ३५९] इत्यनुमानं प्रकृतबाधकमिति चेत्; न; प्रकृतसाध्यसाधनप्रत्यययोः स्वार्थालम्बनत्वाभावेन हेतोर्विज्ञानमात्रसिद्धिः, हेतुसाध्ययोरभावात् । अथार्थवत्त्वे, ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात् । तदुक्तं भगवद्भिः; स्वामिभिः—

> **"अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद्विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः ।**
> **अथार्थवत्त्वं व्यभिचारदोषो न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥"**
>
> [युक्त्यनु० श्लो० १८] इति

§ १२. तदेवं सकलबाधकवैधुर्यादभ्रान्तेन प्रत्यक्षेण बहिरर्थसिद्धेर्दृष्टविरुद्धं विज्ञानाद्वैतशासनम् ।

§ १३. तथेष्टविरुद्धं च, अनुमानाद्बहिरर्थसिद्धेः । तच्चेदमनुमानम्—'सन्ति बहिरर्थाः साधनदूषणप्रयोगात्' इति कथं पुनरतो भावधर्मिणो बहिरर्थस्य साधनम्, कथं च न स्यात्, अस्य सद्भावधर्मत्वे तद्वदसिद्धत्वापत्तेः; तदभावधर्मत्वे चातस्तदभावस्यैव सिद्धेर्विरुद्धत्वोपनिपातात्, तदुभयधर्मत्वे च व्यभिचारप्रसंगात् इति चेत्; न, प्रत्येकोभयधर्मविकल्पविकलस्यैवास्याभ्यनुज्ञानात् । कथमेवं तस्य बहिरर्थभावं प्रत्येव[8] लिङ्गत्वं न तदभावं प्रत्यपीति चेत्; न; तत्रैव[७] तस्याविनाभावनियमात् । धर्मिधर्मस्यापि कृतकत्वादेरनित्यत्वादौ[9] तत[८] एव गमकत्वोपपत्तेः न धर्मिधर्मत्वमात्रेण, एक[९]शाखाप्रभवत्वादावपि तदुपनिपातेनातिप्रसंगापत्तेः ।

---

१. "सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह ।
विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिद्ध्यति ॥" प्र० वा० ३।३८८

२. एकत्वेऽपि । ३. सहोपलम्भनियममात्रस्य । ४. सभ्यानामित्यर्थः । ५. नर्तकीरूपम् । ६. कोशपानं = सौगन्धयम् । ७. बहिरर्थसद्भाव एव । ८. अविनाभावनियमादेव । ९. पक्वानि एतानि फलानि एकशाखाप्रभवत्वात् उपयुक्तफलवदित्यत्र ।

1.–स्त्यैव ग० । 2. नीलदानयो ग० । 3. युग क०, ग० । 4. नानात्वभावात् क० । 5. भेदवभावात् क० । भेद एव भावात् ख० । 6. भेदेऽपि क०, ख० । 7. विरोधात्वा० क०, ख० । 8. प्रत्येवं ग० । 9. –नित्यादौ ग० ।

§ १४. तत्र[१] साधनं नीलादेः संवेदनत्वसमर्थनम्, दूषणं बहिरर्थ[1]त्वनिषेधनं तयोः प्रयोगः प्रकाशनम्। 'नीलादिः संवेदनादव्यतिरिक्तः तद्वेद्यत्वात्; तत्स्वरूपवत्' इत्यादिः 'न जडो नीलादिः प्रतिभास[2]मानत्वात् सुखादिवत्' इत्यादिश्च[3]।

§ १५. कथं पुनरस्य बहिरर्थाभावेऽनुपपत्तिरिति चेत्; अ[२]स्य बहिरर्थविशेषत्वादेव। नहि तद[३]भावे तद्विशेषस्य संभवः, वृक्षाभावे शिंशपाभावस्यैव प्रतिपत्तेः। नासौ [४]तद्विशेष आरोपितरूपत्वादिति चेत्; न; ततः सर्वशक्तिविकलादनिष्टवदिष्टस्याप्यसिद्धेः। अनारोपितोऽप्ययं[५] बोध एव न बहिरर्थ इति चेत्; न, प्रतिपाद्यस्य तदभावात्। प्रतिपादकस्येति चेत्, कथं ततः[६] प्रतिपाद्यस्य प्रकृतार्थस्य प्रतिपत्तिः अन्यबोधादन्यस्य तदनुपपत्तेः। अन्यथा प्रत्यात्मं बुद्धिभेदकल्पनावैफल्योपनिपातात्। तस्मादर्थविशेष एवायमित्युपपन्नमेवातो बहिरर्थव्यवस्थानम्। ततः साधूक्तम्—'इष्टविरुद्धं विज्ञानाद्वैतम्' इति।

[इति विज्ञानाद्वैतशासनपरीक्षा]

[चित्राद्वैतशासनपरीक्षा]

§ १६. एतेन चित्राद्वैतमपि प्रत्युक्तम्। तन्मतेऽपि बहिरर्थापह्नवात्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां बहिरर्थस्य च व्यवस्थापितत्वादित्यलं प्रसंगेन। सर्वथा अन्तरङ्गार्थैकान्तशासनस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वादसत्यत्वसिद्धेः।

प्रमाणाभावतः सर्वं विज्ञानाद्वैतिनां वचः।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम्॥
ज्ञानाद्वैतं न सत्यं स्याद्दृष्टेष्टाभ्यां विरोधतः।
न च तेन[4] प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम्॥

[इति चित्राद्वैतशासनपरीक्षा]

१. 'साधनदूषणप्रयोगात्' इत्यत्र। २. साधनदूषणप्रयोगादित्यस्य हेतोः। ३. बहिरर्थाभावे। ४. बहिरर्थविशेषः। ५. साधनदूषणप्रयोगः। ६. प्रतिपादकबोधरूपात्।

1. -रर्थनि० ख०। 2. भाससमा० ग०। 3. त्यादेश्च ग०। 4. न तेन क०।

[चार्वाकशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्षः]

§ १. अथानेकार्थवादिशासनानां मध्ये तावच्चार्वाकमतं दृष्टेष्टविरुद्धम्। इदं हि तेषामभिमतम्—इह तावन्न कश्चित्सर्वज्ञः सुगतादिषु संभवति।

"सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥"

[तत्त्वसं० श्लो० ३१४९] [१]इति वचनात्।

§ २. नाप्यागमस्तर्को वा प्रमाणभूतोऽस्ति परस्परविरोधादिदोषात्; ततः कथं धर्मो व्यवतिष्ठेत। तदुक्तम्—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः,
नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

[महाभारत] इति

§ ३. इह आप्तस्तु कश्चिद्देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिरेव प्रत्यक्षप्रसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्। तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवायव इति चत्वार्येव तत्त्वानि। कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्यः[२] पिष्टोदकगुडघातकीसंयोगान्मदशक्तिवान् स्नायुलाबूदण्डाङ्गुष्ठाङ्गुलिप्रयत्नाच्छ्रवणरमणीयक्वणितवच्च[1] तदात्मकं चैतन्यं जायते। तच्च गर्भादिमरणपर्यन्तं 'जीव आत्मा' इत्यादि व्यपदेशभाक् प्रवर्तते। गर्भात् पूर्वकाले मरणादुत्तरकाले च तदभावः[2]।

§ ४. ततः परलोकिनोऽभावः। परलोकिनोऽभावात् परलोकस्याप्यभावः। परलोकाभावे तल्लोकसुखानुभवनार्थमैहिकसुखविमुखा डिम्भका इव दम्भप्रलम्भनाधीनाः[3] शरीरार्थव्ययविधानेन बहुधा मुधावत् क्लेशमश्नुवते। तथैवोक्तम्—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः[३] त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः[४]॥
स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य महतीं निर्वाणसंपत्करीं[4],
ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्यासुखान्वेषिणः।

१. श्लोकोऽयं पूर्वपक्षे विद्यते। २. पृथिव्यादिभ्यः। ३. ऋक्यजुसामाख्याः। ४. उद्धृतमिदम्—सर्वदर्शनसं०, चार्वा० पृ० २,५।

1. प्रयत्नाभ्रम० क०। 2. काले तद्० क०। 3. -दिनाः क०, ग०। 4. जीवक०, क०।

ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं भस्मीकृता लुण्ठिताः,
केचित् पञ्चशिखीकृता हि जटिनः कापालिकाश्चापरे॥

[शृङ्गारशतक श्लो० ७९]

अन्यच्च—

“पयोधरभरालसाः स्मरविघूर्णिताद्रेक्षणाः,
क्वचिन्मलयपञ्चमोच्चरितगीतझङ्कारिणीः[1] ।
विहाय रमणीरमूरपरमोक्षसौख्यार्थिना—
महो जडिमडिण्डिमो विफलभण्डपाखण्डिनाम् ॥”[१]

[ ] इति

[उत्तरपक्षः]

§ ५. तदेतच्चार्वाकमतं तावद् दृष्टविरुद्धम्, प्रत्यक्षेण पृथिव्यादीनां परस्परमुपादानोपादेयभावदर्शनात्, तेषां सर्वथा तत्त्वान्तरत्वस्य पक्षस्य [2]प्रत्यक्षविरोधसिद्धेः । तेषां परस्परमुपादानोपादेयभावेऽपि तत्त्वान्तरत्वे बीजादेरङ्कुरादेरपि तत्त्वान्तरत्वप्रसंगात् ।

§ ६. न च तेषां परस्परमुपादानोपादेयभावदर्शनमसिद्धम्, पृथिव्यात्मकचन्द्रकान्तसूर्यकान्त-काष्ठविशेषेभ्यो[२] जलानलयोरुत्पत्तेः । प्रदीपजल[३]विशेषाभ्यां पृथ्वीरूपाञ्जन-मुक्ताफलयोः, पृथ्वीविशेषतालवृन्तादेर्वायोः साक्षाद्वीक्षणात्, अन्यथा दृष्टापलापप्रसंगात् ।

§ ७. तथा जीवो नास्तीत्यभिमतमपि दृष्टविरुद्धम् । सुखदुःखहर्षविषादाद्यनेकपरिणामात्मकस्यात्मतत्त्वस्य [3]स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण निर्बाधमनुभवात् हेतुभिर्विनैव अस्तित्वस्य सिद्धेः ।

“तस्य हि हेतुर्वाच्यो यस्मिन्मोमुह्यते[4] मतिर्नृणाम् ।
न हि दर्पण आदेयः[5] करकङ्कणदर्शनाय बुधैः ॥”

[ ] इति वचनात्

§ ८. न च जीवस्य ज्ञानात्मनः स्वसंवेदनमसिद्धम्; ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे चाभावापत्तेर्ग्राहकाभावात् । ज्ञानान्तरेण ग्रहणे, तस्यापि तदनन्तरेण ग्रहणकल्पनायामनवस्थोपनिपातात् । तदकल्पनायां तथा वक्तुमशक्तेः । न चानुमानेन तद्ग्रहणम्, तद[४]नुपगमात् प्रमाणसंख्याव्याघाताच्च । ततः स्वसंवेदनमेषितव्यम् । तत्र च स्वसंवेदनेन जीवस्य भोक्तृत्वासाधारणधर्मभूतः साक्षात्करणाद् दृष्टविरुद्धमिदं बार्हस्पत्यं मतम् ।

§ ९. नासिद्धं भोक्तृत्वस्यासाधारणत्वम्[6]; अचेतनस्य शरीरादेस्तदनुपपत्तेः । न ह्यचेतनस्य शरीरस्य भोक्तृत्वमुपपद्यते, शरीरस्य भोगाधिष्ठानत्वेन प्रसिद्धेः, अन्यथा मृतकस्यापि भोक्तृत्वप्रसंगात् । नापि करणग्रामस्य[५]; तस्य भोगोपभोगकरणत्वात् । न च शब्दादिविषयस्य; भोग्यत्वेन

१. उद्धृतमिदम्–यशस्तिलके उत्तरार्धे, पृ० २५२ । २. मणिभ्यः । ३. स्वातिनक्षत्रे वृष्टस्य शुक्तिमध्ये पतितस्य । ४. अनुमानानभ्युपगमात् । ५. इन्द्रियसमूहस्य ।

1. –झङ्कारिणः क० । 2. –त्वस्य परोक्षस्य प्रत्य० ख० । –त्वस्य परेष्टस्य प्रत्य० ग० । 3. –य संवे० क० । 4. –मन्नो० क० । 5. –णमादेयः क० । 6. –पि साधा० क०, ख० ।

तस्य प्रतीतेः । ततो भोक्तृत्वमात्मन्येवेति तदपलापिनो लोकायतिकस्य भोक्तृत्वं क्वापि न व्यवस्थामास्तिघ्नुवीत ।[1]

§ १०. ननु पृथिव्यादिसमुदयशरीरकार्यान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि भोक्तृत्वं संभवति, शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्येति चेत्; तदेवात्मद्रव्यमस्तु, जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि तस्य सद्भावोपपत्तेः । विवादापन्नं चैतन्यमनाद्यनन्तं पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रियविषयेभ्योऽत्यन्तवैलक्षण्यस्यान्यथानुपपत्तेः । न हि तत्कार्यं ततोऽत्यन्तविलक्षणमस्ति, रूपादिसमन्वयात् । चैतन्यस्यापि सत्त्वादिसमन्वयान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति चेत्; न; तत्त्वभेदेऽपि तस्य[१] भावात् पृथिव्यादीनामभेदापत्तेः । पृथिव्यादितत्त्वभेदानामेकविकारिसमन्वयाभावाद्भेद एव केषांचित्[२] प्रागभावादिभेदवत्; किमिदानीं चैतन्यभूतयोरेकविकारिसमन्वयोऽस्ति येन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो न स्यात्, तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं वैलक्षण्यम्, तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां[2] चैतन्यस्य साधयतीत्यनाद्यनन्तत्वेन प्रसिद्धः सोऽयमात्मा हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तः प्रत्यात्मवेदनीयः प्रतिशरीरं भेदाभेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन । ततश्चार्वाकमतं दृष्टविरुद्धमिति सिद्धम् ।

§ ११. एतेन [3]तदिष्टविरुद्धं च सिद्धम्, अनाद्यनन्तस्यात्मनः साधितत्वात्, प्रतिषेधगौणकल्पनादिभिस्तस्य साधयिष्यमाणत्वाच्च[4] । तदुक्तम्—

“[३]प्रतिषेध-गौणकल्पन-शुद्धपदानेकसंमतिजिनोक्तैः ।
निर्बाधलक्षणार्थैर्लिङ्गैरपि भाव्यते भावः[४] ॥”

[ ]

§ १२. तद्यथा—‘नास्ति जीवः’ इति प्रतिषेधवचनमेव जीवस्य मुख्यवृत्त्या अस्तित्वं सूचयति, निरूपाख्येषु[५] विधिप्रतिषेधानुपपत्तेः । यथा—‘नास्तीह घटः’ इति प्रतिषेधो देशान्तरे घटास्तित्वं प्रकाशयति तथा स्वरूपादिचतुष्टयेन सत एव जीवस्य पररूपादिचतुष्टयेन नास्तित्वं घटते नान्यथा ।

§ १३. ननु खरविषाणा[5]दीनामत्यन्ताभावरूपाणामपि निषेधविषय[6]स्योपपत्तिरिति चेत्; न, गवादिमस्तके सत एव विषाणस्य खरादिमस्तके प्रतिषेधदर्शनात् । ततः सतः प्रतीतौ[7] प्रतिषेधसिद्धिरिति सुनिरूपितम् ।

§ १४. तथा चित्रपुरुषादौ ‘इदं [8]सजीवचित्रम्’ इति गौणकल्पनं मुख्यवृत्त्या जीवास्तित्वं कथयति, यथा—‘सिंहो माणवकः’ इति माणवके सिंहत्वं विशिष्टजात्यादिपरिणतसिंहास्तित्वमिति । तस्माद्गौणकल्पनात् मुख्यसिद्धिरिति निरवद्यम् ।

§ १५. तथा ‘जीवः’ इति शुद्धपदं मुख्यवृत्त्या, स्वार्थवत्, शुद्धपदत्वात्, प्रमाणपदवत् । ततः शुद्धपदाभिधेयत्वात् ‘अस्ति जीवः’ इति च सिद्धम् ।

§ १६. तथैवानेकविशिष्टजनसंमतत्वात्, आप्तप्रणीतत्वाच्च ‘अस्ति जीवः’ इति सुव्यवस्थितम् ।

१. सत्त्वादिसमन्वयस्य । २. नैयायिकानाम् । ३. प्रतिषेधश्च गौणकल्पनं च शुद्धपदश्च अनेकसम्मतिश्च जिनोक्तिश्च तैः । ४. जीवः । ५. निरूपेषु तुच्छेषु ।

1. –वित क०, ग० । 2. –नन्तरां चैत–क०, ख० । 3. –तदेष्ट क० । 4. –माणाच्च क० । 5. –दिना ख० । 6. –विषयत्वोप–ग० । 7. प्रतीतो प्रति क० । 8. संजीव क०, ख० ।

§ १७. किं च भूतचैतन्ययोर्बहिरन्तर्मुखावभासयोः बाल्यादि-रागादि-विरुद्धधर्माध्यासितयोर्द्रव्यान्तरभावेन[1] भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात् भेद एव । तयोर्देशभेदेनादर्शनादभेदे शरीराकारपरिणतावनिवर्न[२]-पवन[३]सख-पवनानामप्येकत्वप्रसंगात् । **"उपादानकारणसदृशं हि कार्यं भवति ।"** [ ] इति वचनाद् धार[४]णेरणद्रवोष्णतारूपेण भूतसादृश्याभावात्, अमूर्तचैतन्यस्य मूर्तकार्यत्वायोगाच्च शरीराद्भिन्नमेव चैतन्यम् ।

§ १८. तस्य[५] चाभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने सति प्रादुर्भवति, प्रत्यभिज्ञानं च स्मरणे सति, स्मरणं च पूर्वानुभव[2] एव भवतीति पूर्वानुभवः सिद्धः । अन्यथा तदहर्जातबालकस्य स्तनादावभिलाषाऽभावप्रसंगात् । [६]मृतानां केषांचिद्रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां दर्शनात् केषांचिद्भवस्मृतेरुपलम्भाच्च परलोकोऽप्यस्ति । तदुक्तम्—

"तदहर्ज्जस्तनेहातो रक्षो दृष्टेर्भवस्मृतेः[3] ।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥"

[ ] इति

§ १९. जननादिकारणाविशेषेऽपि सुखदुःखादिवैचित्र्यदर्शनात् पुण्यपापादिकमप्यस्त्येव । एवं प्रमाणप्रसिद्धे[4] परलोके परलोकपुण्यपापप्रद्वेषि बृहस्पतिमतं न सतां मनो मनागपि प्रीणयति[5], किंतु उपालम्भमेवार्हति । स चोक्तः स्वामिभिः—

'मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा मृदवः प्रलब्धाः ॥
दृष्टेऽविशिष्टे[6] जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम् ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा प्रपातः ॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपदेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षा सममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्याः बत विभ्रमन्ति[7] ॥

[युक्त्यनु० श्लो० ३५-३७] इति

ततो नायं बृहस्पतिराप्ततामात्मसात्करोति ।

§ २०. यदुक्तम्—'सर्वज्ञो नास्ति' इत्यादि, तदपि प्रलापमात्रमेव; प्रत्यक्षतः सर्वज्ञस्य मुनेः, अनुमानस्यागमस्य च नास्तित्वव्यवस्थापनासंभवात्, तस्य[७] भावविषयताभ्युपगमात्[8] । यदि किंचित् प्रत्यक्षं तत्राप्रवर्तमानत्वादेव तदभावं व्यवस्थापयेत्, तदा पुरुषान्तरादि-प्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं तदेव गमयेत्, तद्विषयाणां च [9]क्ष्मादीनामित्यतिप्रसंगःस्वयमिष्टस्य बृहस्पत्यादि-प्रत्यक्षस्यापि सविषयस्याभ वसिद्धेः ।

---

१. बाल्यादिभावो हि भौतिकशरीरगोचरः । २. जलम् । ३. अग्निः । ४. धारणं पृथिव्याः, ईरणं वाय्वोः, द्रवो जलस्य, उष्णता चाग्नेः । ५. जीवस्य । ६. तुलना—प्रमेयरत्न० । ७. प्रत्यक्षस्य ।

1. –तराभावेन क० । 2. –नुभूत एव क० । 3. –स्कृते क० । 4. प्रसिद्ध पर–क०, ख० । 5. प्रणयति क०, ख० । 6. दृष्टि क० । 7. इदं पद्यं ख 'प्रतौ नास्ति' । 8. विषयत्वाभ्यु० ख० । 9. -दिना० ख० ।

§ २१. अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं व्यवस्थापयति पृथिव्यादि[1]स्वविषयं च तत्र प्रवर्तनादतो[2] न तदभावप्रसंग इति मतम्; तर्हि सर्वज्ञोऽपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं च व्यवस्थापयति, इति कथं तदभावसिद्धिः, प्रमाणान्तरस्य[१] च तद्वचनस्य[3] [4]हेतुवादरूपस्याऽहेतुवादरूपस्य च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति कुतस्तदभावे[२]सिद्धिः । सर्वज्ञः स्वपरव्यवस्थापकोऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्; स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः प्रत्यक्षान्तरं स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम्, तथा प्रसिद्धिरन्यत्रापि, इति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, अतिप्रसंगस्य दुःपरिहरत्वात् ।

§ २२. किं च, सर्वज्ञत्वाभावः प्रत्यक्षेण क्वचित् कदाचित् कस्यचिद् व्यवस्थाप्यते, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य वा ? तत्राद्यपक्षे परस्येष्टापादनम् ।[३] द्वितीयपक्षे सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षतः संविदन् स्वयं सर्वज्ञः स्यात् । तथा सति व्याहतमेतत् सर्वज्ञाभाववचनं चार्वाकस्य ।

§ २३. नाप्यनुमानं तदभावसाधकम्, तदनभ्युपगमात्[5] स्वयमनुमानं निराकुर्वन्ननुमानादेव सर्वज्ञाभावं साधयति इति कथमनुन्मत्तः ।

§ २४. तदेवं बाधकाभावादस्ति सर्वज्ञः । स च स्याद्वादी भगवन्नर्हन्नेवान्ययोगव्यवच्छेदेन निश्चीयते, तस्यैव युक्तिशास्त्राविरुद्धवाक्यत्वात्[6] । अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ततस्तदुक्तो[४] धर्मो मोक्षश्च व्यवतिष्ठते । तन्निराकरणे चार्वाकाणां [7]प्रमाणाभावस्य प्रतिपादितप्रायत्वात् । प्रलापमात्रस्य च प्रेक्षावतामनादरणीयत्वादिति स्थितं दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् चार्वाकमतमसत्यमिति ।

स्वपराविदिताध्यक्ष[8]चार्वाकाणां वचोऽखिलम् ।
भवेत् प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम् ॥
न चार्वाकमतं सत्यं दृष्टादृष्टेष्टबाधतः ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वाद(स्ये)ति[9] निश्चितम् ॥

[इति चार्वाकशासन-परीक्षा]

---

१. अनुमानरूपस्य । २. सर्वज्ञस्य प्रमाणान्तरस्य च । ३. 'अस्मिन् काले अत्र कश्चित्सर्वज्ञो नास्ति' इत्यत्र विवादाभावात् । ४. स्याद्वादितीर्थंकरप्रणीतः ।

1. –दिविष– क० । 2. प्रवर्तमानात् क०, ख० । 3. तद्वचस्य ख० । 4. हितवाद. ख० । 5. तदभ्युप– क० । 6.–वाक्त्वात् ख०, ग० । 7.–माणभाव– क०, ख० । 8. विधिताध्यक्षाणां चा– क०, ख० । 9. –दश्चेति क०, ख० ।

[बौद्धशासन-परीक्षा]

§ १. तथा ताथागतशासनमपि दृष्टेष्टविरुद्धम् । एवं हि सर्वभावानां क्षणभङ्गसंगममेवाङ्ग-शृङ्गारमङ्गीकुर्वाणास्ताथागताः संगिरन्ते—रूपादिपञ्चस्कन्धा एव तत्त्वानि । रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्पराऽसंबद्धा[1] रूपस्कन्धाः । सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः । सवि-[2]कल्पकनिर्विकल्पकज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः ।

"जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यसंज्ञा पञ्चैव कल्पनाः ।
अश्वो याति सितो[3] घण्टिक[१] तदाख्येति[२] यथाक्रमम्[4] ॥

[ ] इति

इत्येतत्कल्पनासहितं सविकल्पकम्, तद्रहितं निर्विकल्पकम् । तथा वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः । ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः इति । रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा इति पञ्च स्कन्धाः ।

§ २. तेषु च पूर्व-पूर्वचित्तविशेषप्रभवा उत्तरोत्तरचित्तक्षणा उपादानोपादेयरूपेण सजात्युत्तर-क्षणं जनयन्तः[5] परस्परासंपृक्ता निरन्वयप्रतिक्षणविशरारवो निरंशाश्च भ्रान्तिवशात् ग्राह्य-ग्राहक-संवेदनाकारत्रयाक्रान्ता [6]विजातीयाऽव्यवधान[३]लघूत्पत्ति-सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलब्धबुद्धेः संतान-रूपेण वर्तमाना आत्माभिधानं जनयन्ति । तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानमपि लूनपुनर्जातनखकेशादौ पूर्वापरै-कत्वाभावेऽपि दर्शनान्नित्यत्वसमर्थनाय नालमिति त्रिकालानुयाय्ये[7]कत्वरहिता एव[8] वर्तन्ते; किंतु ज्ञान-वैराग्यभावनातिशयवशादविद्यातृष्णाविगमे निःशक्तिकानामुत्तरोत्तरविज्ञानक्षणमजनयतां निर-न्वयविनाशेन संतानोच्छित्तिर्मोक्षः । **"प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्"** [ ] इति वचनात् । तदुक्तम्—

[9]"क्षणादूर्ध्वं न तिष्ठन्ति शरीरेन्द्रियबुद्धयः ।
दीपार्चिरिव वर्तन्ते स्कन्धाः क्षणविलम्बिताः[10] ॥"

[ ] इति ।

§ ३. तस्य च मोक्षस्योपायः काषायचीवरपरिधानशिरस्तुण्डमुण्डनब्रह्मचर्यधारणादयः । तथैव दुःखसमुदय[४]निरोध[५]मार्गणा[६] इति चत्वारः पदार्थाश्चतुरार्यसत्याभिधाना मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्याः ।

§ ४. तत्र सहज-शारीर-मानसागन्तुकानि दुःखानि । तत्र सहजं क्षुत्तृष्णा-मनोभूभया-दिकम् । शारीरं वात-पित्त-पीनसानां[७] वैषम्यसंभूतम् । मानसं धिक्कारावज्ञेच्छाविघातादिजनितम् । आगन्तुकं शीतवातातपाशनिपातादिजनितम् । एतद्दुःखविशिष्टाश्चित्तक्षणाः संसारिणां दुःखमित्यु-

१. घण्टावान् । २. तत्संज्ञकः । ३. आशूत्पत्ति । ४. समुदेति अस्मादिति समुदयः दुःखकारण-मिति यावत् । ५. निर्वाणम् । ६. अष्टाङ्गिकः सम्यग्दृष्ट्यादिः । ७. कफ ।

1. –सम्बन्धा क० । 2. सविकल्पनिर्विकल्पकज्ञा– क०, ख० । 3. पितो क०, ख० । 4. –ख्यो यथा– क० । तालाख्यो– ख० । 5. जनयतः क०, ख० । 6. –क्रान्तानि जातीया– क०, ख० । 7. यायै-कत्व– क० । 8. रहितावर्तन्ते, क०, ख० । 9. दूद्ध्वं, ख० । 10. विलम्बिनः ग० ।

च्यन्ते । तद्दुःखजननकर्मबन्धहेतुभूते अविद्यातृष्णे समुदयशब्देनोच्येते[1] तत्र वस्तुयाथात्म्या-ऽप्रतिपत्तिरविद्या । इष्टानिष्टेन्द्रियविषयप्राप्तिपरिहारवाञ्छा तृष्णा । निरोधो नाम अविद्यातृष्णा-विनाशेन निरास्रवचित्तसंतानोत्पत्तिलक्षणः संतानोच्छित्तिलक्षणो वा मोक्षः । तथा[2] मोक्षहेतुभूता मार्गणा ।

§ ५. सा च सम्य[१]क्त्व-संज्ञा-संज्ञीवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाऽऽजीवस्थिति-समाधिलक्षणा-ष्टाङ्गाः । तत्र सम्यक्त्वं पदार्थानां याथात्म्यदर्शनम् । संज्ञा वाचकः शब्दः संज्ञी वाच्योऽर्थः । वाक्कायकर्मणी वाक्कायव्यापारौ । अन्तर्व्यायामो वायुधारणा । आजीव[3]स्थितिरायुरवसानपर्यन्तं प्राणधारणा । समाधिर्नाम सर्वं दुःखम्, सर्वं क्षणिकम्, सर्वं निरात्मकं सर्वं शून्यमिति[4] सत्यभावना । तस्याः[२] प्रकर्षादविद्यातृष्णाविगमे निरास्रवचित्तक्षणाः सकलपदार्थावभासकाः समुत्पद्यन्ते । तद्योगि-प्रत्यक्षम् । स च योगी[5] यावदायुस्तावत्कालमुपासकानां धर्ममुपदेश्य आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाण-कल्पमात्मनिर्वाणं प्राप्नोति उत्तरचित्तस्योत्पत्तेरभावादिति । तदप्युक्तम्—

"दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्[6] ।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥
जीवस्तथा[7] निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् मोहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥"

[सौन्दरनन्द० १६।२८,२९] इति

[उत्तरपक्षः]

§ ६. तदेतत्सौगतमतं तावत् दृष्टविरुद्धम् । सौगताभिमतस्य निरन्वयविनाशिपरमाणुमात्र-लक्षणस्वलक्षणस्य स्थूलस्थिरसाधारणाकारावभासिना प्रत्यक्षेण विरुद्धत्वात् । नहि प्रत्यक्षे सूक्ष्मक्षणिका-साधारणरूपाः परमाणवः प्रतिभासन्ते, स्थूलस्थिरसाधारणाकारात्मनामेव घटादीनां प्रतिभासनात् ।

§ ७ ननु परमाणुष्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु दृष्टौ प्रतिभासमानेषु कुत[8]श्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि परत्र चासन्तमेव स्थूलाद्याकारं दर्शयन्तो [३]संवृतिः तान् संवृणोति केशादिभ्रान्तिवदिति चेत्; नैवम्; बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वापत्तेः, तस्य अभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसंगात्, **"प्रत्यक्षं कल्पना-पोढमभ्रान्तम्"** [न्यायवि० १।४] इति लक्षणस्याऽसंभवदोषानुषंगात् ।

§ ८ ननु नैष दोषः, परमाणुप्रत्यक्षस्य तल्लक्षणसंभवादिति चेत्; न; परमाणूनां जातुचिद-ध्यक्षबुद्धावप्रतिभासनात् । न हि कश्चिल्लौकिकः परीक्षको वा देशकालविप्रकृष्टार्थवत् परमाणून् साक्षात्प्रत्येति, अन्यथा प्रतीत्यपलापप्रसंगात् । त इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः[४] ।

१. तन्मते हि—सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यग्वाक्, सम्यग्व्यायामः, सम्यगाजीवः, सम्यक् प्रयत्नः, सम्यक्स्मृतिः, सम्यग्समाधिश्चेत्यष्टौ । २. भावनायाः । ३. कल्पना । ४. मूल्यं दातुं न प्रभवन्ति अथ च प्रत्यक्षतामिच्छति ।

1. नोच्यते क० । 2. तदा क०, ख० । 3. अजीव क०, ख० । 4. –त्मकं शून्यम् क० । 5. योगि क०, ख० । 6. –रिष्टम् क०, ख । 7. जिनस्तथा क० । 8. –माने कुत– क०, ख० ।

§ ९. न च परमाणवः प्रत्यक्षा भवितुमर्हन्ति, तत्साक्षात्करणे प्रमाणाभावात् । निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमस्तीति चेत्; न; तस्याव्यवसायात्मकस्याप्रामाण्यात्, अविसंवादवैकल्यात् । तथा हि– यदविसंवादविकलं न तत्प्रमाणं, यथा अज्ञस्य विषदर्शनम्, तद्विकलं च सौगतपरिकल्पितं दर्शनम् । अविसंवादो हीत्थं [1]गेयमित्थं चित्रमित्यभिसन्धिकरणमेव । **"अभिप्रायनिवेदनादविसंवादनम्"** [प्र० वा० १।३][1] इति वचनात् । न च तन्निवेदनमव्यवसायस्य, अज्ञविषदर्शनस्यापि तत्प्रसंगात् ।

§ १०. अव्यवसायस्यापि दर्शनस्य व्यवसायजननात्त[2]न्निवेदनमिति चेत्; न; व्यवसायस्यैवासंभवात्, कुतश्चिदपि तत्स्वरूपस्याव्यवस्थितेः । विकल्पस्वरूपस्य स्वसंवेदनेन व्यवस्थापनेऽपि तस्य विकल्पान्तरापेक्षत्वप्रसंगात्, नीलादिस्वलक्षणदर्शनवत् ।

§ ११. यदि स्वसंवेदनं निश्चयस्वरूपं निश्चयनिरपेक्षतया परिनिष्ठा[2]पयेत् तदा वस्तुदर्शनमपि स्वलक्षणम्, विशेषाभावात्, तथा च किं निश्चयापेक्षया ? वस्तुदर्शनस्य निश्चयापेक्षायां वा निश्चयस्वरूपसंवेदनस्यापि निश्चयान्तरापेक्षणादनवस्था स्यात् । विकल्पस्य[3] विकल्पान्तरेण व्यवस्थापनेऽपि तस्यापि तदन्तरेण व्यवस्थेति तदवस्थैवानवस्था । ततो व्यवसाय एव न संभवति यतस्तज्जननात् प्रत्यक्षं प्रामाण्यमुपढौकेत ।

§ १२. यथा कथंचिद् व्यवसायस्य संभवे वा न तज्जननं संभवति अव्यवसायाद् व्यवसायस्य गर्दभादश्वस्येवानुत्पत्तेः । अभिलापशून्यादप्यध्यक्षाद् व्यवसायकल्पनायां स्वलक्षणं किं नाध्यवसायं जनयेत् स्वयमभिलापशून्यमपि, प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुनः रूपादिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम् ।

§ १३. यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोऽध्यवसायस्योत्पत्तिः प्रदीपादेः कज्जलादिवत्; विजातीयादपि कारणात् कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति मतम्; तदा [3]तादृशोऽर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु तत एव ।

§ १४. [4]जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादर्थात् कथं जात्यादिकल्पनात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्; प्रत्यक्षात्तद्रहिताद्विकल्पः कथं जात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समानः पर्यनुयोगः[5] । विकल्पस्य जात्यादिविषयत्वाददोषः इति चेत्; न; प्रत्यक्षवत् तस्य[4] जात्यादिविषयत्वविरोधात्; तत[5] एव तस्य वस्तुनोऽप्युत्पत्तिप्रसक्तेश्चेति व्यवसायहेतुत्वमनुपपन्नमेव ।

§ १५. अथ व्यवसायवासनोन्मीलनेन अव्यवसायस्यापि व्यवसायहेतुत्वं दर्शनस्येति चेत्; न; तद्वदर्थस्यैव तद्धेतुत्वप्रसंगेन अन्तर्गडुनो दर्शनस्याऽकल्पनापत्तेः । व्यवसायहेतुत्वेन चाविसंवादित्वमौपचारिकमेव दर्शनस्य स्यात्, मुख्यतः संनिपत्याऽभिप्रायनिवेदनेन व्यवसायस्यैव तदुपपत्तेः ।

---

१. "प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिः ।
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥" प्र० वा० १।३

२. व्यवस्थापयेत् । ३. शब्दरहितात् । ४. निर्विकल्पस्य । ५. प्रत्यक्षात् ।

1. –हितं ज्ञेयं क० । 2.–नात्तं निवेदमिति ख०, –जनमिति ग० । 3. इति पदं 'ग' प्रतौ नास्ति ।। 4. एव तद्वज्जाद्रव– क०, ख० । 5. पर्यानयोगः क०, ख० ।

न च ततस्तस्य प्रामाण्यम्; सन्निकर्षादावपि तत्प्रसंगात् । ततो युक्तमविसंवादवकल्यात् दर्शनमप्रमाणमिति । तदुक्तम्—

"[1]विषदर्शनवत्सर्वमज्ञस्याकल्पनात्मकम् ।
दर्शनं न प्रमाणं स्यादविसंवादहानितः ॥"

[सिद्धिविनि० १।२४] इति

§ १६. प्रामाण्याभावे च दूरतः प्रत्यक्षत्वम्, तस्य[1] तद्विशेषत्वेन तदभा[3]वेऽनुपपत्तेः । अतः प्रत्यक्षाभावान्न परमाणूनां प्रतिभासने प्रत्यक्षं प्रभवति ।

§ १७. नाप्यनुमानम्; तस्य [2]लिङ्गदर्शनपूर्वकस्य प्रत्यक्षा[3]भावेऽनुपपत्तेः । नाप्यागमः वाचां वस्तुविषयत्वानिष्टेः । एवं सकलप्रमाणाभावात् कथमर्थप्रमितिः स्यात्, तदभावे परोदितपञ्चस्कन्धरूपाशेष[5]प्रमेयानुपपत्तिः । तथा च सकलं जगच्छून्यमेवेति स्याद्वादविद्वेषिनां सौगतानां महदनिष्टमुपनिपतति । तदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रपादैः—

"प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गिगम्यं न तदर्थलिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः कष्टमश्रुण्वतां ते[3] ॥"

[युक्त्यनु० श्लो० २२] इति

§ १८. ततः[6] प्राक्परमाणवः[7] प्रतिभासन्त इति परेषां प्रतिज्ञा पोप्लूयते, तथा पश्चात् संवृत्या स्थूलाद्याकाराः प्रतीयन्ते इति प्रतिज्ञापि । प्रागपि प्रत्यक्षेण नीलादिवत् स्थूलाद्याकाराणां दर्शनात् नीलविकल्पवत् स्थूलादिविकल्पानां च प्रतीतेः ।

§ १९. तस्मादिन्द्रियबुद्धयोऽपि स्वलक्षणविषया मा भूवन् केवलं स्थूलाद्याकारान् पश्येयुः, अदृष्टे विकल्पायोगात्, [8]अतिप्रसंगाच्च ।

§ २०. यथैव हि नीले पीतादीनामदृष्टत्वान्न तद्विकल्पोत्प[4]त्तिः, नीलस्य दृष्टत्वान्नील-विकल्पस्यैवोत्पत्तेः[9], तथैव स्थूलादीनपश्यतः त[5]द्विकल्पोत्पत्तिर्मा भूत्; स्वलक्षणदर्शनात् स्वलक्षणविकल्पोत्पत्तिरेवास्तु ।

§ २१. न चैवम्, स्थूलाद्याकारेष्वेव विकल्पोत्पत्तेः । यदि पुनः स्थूलाद्याकाराणामदर्शनेऽपि तद[6]नादिवासनावशादेव तद्विकल्पोत्पत्तिरुररीक्रियते तदा नीलादिरूपादर्शनेऽपि तद्वासनासामर्थ्यादेव नीलादिविकल्पोत्पत्तिः[6] । ततो[7] नीलादिरूपव्यवस्था मा भूत् । तद्वत्सुखादिव्यवस्थितिरपि कुतः संभाव्येत् । स्वसंवेदनव्यवस्था च तन्निश्चयोत्पत्तेः दुर्घटैव । तदनुत्पत्तेः सुतरां तदव्यवस्था स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवद् वेद्याकारविवेकवद्वा । **"स्वरूपस्य स्वतो गतिः"** [प्र० वा० १।५]

---

१. प्रत्यक्षत्वस्य । २. प्रामाण्याभावे । ३. अर्हत इष्टमित्यध्याहारः, तेन ते इष्टमश्रुण्वतामिति सम्बन्धः— आ, टि० । ४. स्थूलादिविकल्पोत्पत्तिः । ५. स्थूलादि । ६. स्यादिति । ७. नीलादिविकल्पोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः ।

1. एष क०, ख० । 2. लिङ्गादर्श० क० । 3. प्रत्यक्षभावे क० । 4. अनुपपत्तिः क०, ख० । 5. –रूपाः शेष– क० । 6. तत् क०, ख० । 7. परमाणतः क०, ख० । 8.—योगादपि प्र– क०, ख० । 9. दृष्टत्वान्नीलोत्पत्ति– क०, ख० ।

इत्यपि तथा निश्चयानुत्पत्तौ न सिद्‌ध्येत्, ब्रह्माद्वैतादिवदिति सर्वं विप्लवते ।

§ २२. ततः कुतश्चिन्निश्चयात् नीलादिस्वभावव्यवस्थायां स्थूलादिनिश्चयात् वस्तुनि परमार्थतः स्थूलाद्याकारव्यवस्थितिरास्थेया[1] अन्यथा क्वचिदपि व्यवस्थानासिद्धेः ।

§ २३. ततो न तेषां सांवृतत्वम्, संवृते विकल्पात्मिकायाः प्रागेव [१]प्रत्यादिष्टत्वाच्चेति प्रागुक्तं शाक्यवाक्यमशेषतः प्रतिज्ञारूपं प्राज्ञैरवज्ञायते ।

§ २४. ननु [न] परमार्थाः[2] स्थूलाद्याकाराः बाधकसद्‌भावात् । तथा हि—स्थूलाकारोऽवयवी, साधारणाकारः सामान्यम् । तत्र चैकस्यावयविनोऽनेकेष्ववयवेषु[3] सामान्यस्यैकस्य अनेकव्यक्तिषु वृत्तिः परैरिष्टा, प्रत्याश्रयं किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा स्यात् प्रकारान्तराभावात् । समवायः प्रकारान्तरमिति चेत्; न; अयुतसिद्धेषु वर्तते समवैति इत्यनयोरर्थभेदाभावात् । तत्रैकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निःप्रदेशत्वात् । नापि सर्वात्मना , अवयव्यादिबहुत्वप्रसंगात्; यावन्तोऽवयवादयस्तावन्तोऽवयव्यादयः स्युः, तेषां प्रत्येकं सर्वात्मना वृत्तत्वात् ।

§ २५. अथ प्रदेशवत्त्वं मन्येत अवयव्यादीनां तत्रापि वृत्तिविकल्पोऽनवस्था च । तथावावयव्यादि सर्वं तदेकमेव न स्यादिति वृत्तेर्दोषस्य बाधकस्य भावादिति चेत् ; तदसत्, भेदैकान्तवादिनामेव[4] प्रतिपादितदोषोपनिपातात् । स्याद्वादिभिरपि—

“एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥”

[आप्तमी० श्लोक० ६२] इति

[२]तान् प्रति तद्दोषप्रतिपादनात् ।

§ २६. नन्वेवं वृत्तेर्दोषः स्याद्वादिनां च प्रसज्यत इति चेत् ; तर्हि नायं प्रसंगोऽनेकान्ते कथंचित्तादात्म्यात् वेद्यवेदकाकारज्ञानवत्[5] । यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्यां तादात्म्यम्, अशक्यविवेचनत्वात् ‘किमेकदेशेन सर्वात्मना वा’ इति विकल्पयोर्न विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा [6]प्रसज्येत, अनवस्था वा, तथा अवयव्यादेरप्यवयवादिभ्यस्तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येकं सर्वात्मना[7] वा; यतस्ताथागतः सर्वथा भेद इव अवयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्येऽपि वृत्तिं दूषयेत् ।

§ २७. यदत्रान्यदप्युक्तम्—न परमार्थः स्थूलाकारः परमाणूनां संबन्धासिद्धेः तेषामेकदेशेन संबन्धे दिग्भागभेदादनुषट्केन युगपद्योगे षडंशतापत्तेः; सर्वात्मना संबन्धे प्रचयस्यैकपरमाणुमात्र-

१. प्रत्याख्यानं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः आ० टि० । २. नैयायिकान् प्रति वृत्तिविकल्पदोषस्य ।

1. —रप्यासेया— क० । 2. ननु परमा— क० । 3. —वयेषु क० । 4. —वेदिना क०, ख० । 5. वेद्यवेदनाकार—ग० । 6. प्रसज्यते ख०, ग० । 7. प्रत्येक असर्वा— क० ।

त्वापत्तेरिति, तदपि दूषणं परमाणूनामनन्यथै[1]कान्तवादिनां[१] स्यान्न पुनः स्याद्वादिनाम् । यथैव हि नैयायिकादयः ‘परमाणवो विविक्तावस्थावत् प्रचयावस्थायामपि परमाणुत्वं न त्यजन्ति’ इति मन्यन्ते न तथा स्याद्वादिनो येन तद्दोषस्तेषामनुषज्येत; तैः परमाणूनां स्निग्धरूक्षाणामजघन्यगुणानां द्व्यधिकादिगुणानां विजातीयानां सजातीयानां च [2]सक्तुतोयवत् संतप्तजतुखण्डवत् कथंचित् स्कन्धाकारपरिणामात्मकस्य संबन्धस्याभ्युपगमात् ।

[२]“लुक्खस्स[3] लुक्खेण दुवाहिएण,
णिद्धस्स णिद्धेण दुवाहिएण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेइ[4] बन्धो,
जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥”

[ ] इति वचनात् ।

§ २८. [३]परैरप्येवमभ्युपगमः कर्तव्यः, अन्यथा अर्थक्रियाविरोधात्, अणूनामन्योन्यमसंबन्धतो जलधारणाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तेः । रज्जुवंशदण्डादीनामेकदेशापकर्षणे तदन्याकर्षणे चासंबन्धवादिनो न स्यात् । अस्ति चैतत् सर्वम् , विकल्पप्रतिभासिनः प्रत्यक्षदृष्टत्वसिद्धेः अदृष्टे विकल्पायोगात् , अन्यथातिप्रसंगस्योक्तप्रायत्वात् । असंबद्धपरमाणुमात्रग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणाभावस्य प्रतिपादितत्वाच्च[5] । ततो जलाहरणाद्यर्थक्रियान्यथानुपपत्तेः संबन्धासिद्धः ।[6]

§ २९. किं च, एवं वदतः चित्रज्ञाननिर्भासलवविशेषाणामेकदेशेन सर्वात्मनापि संबन्धासिद्धेः सकलनीलादिनिर्भासावयवव्याप्येकत्वं तत्र[7] न सिद्‌ध्येत् । तदवयवपृथक्त्वकल्पनायां चित्रैकज्ञानव्यवहारो मा भूत् ; पृथग्वर्णान्तरविषयानेकसंतानैकैकक्षणवत् । तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात्कोऽपरः स्यात् ; देशप्रत्यासत्तेः शीतवातादिभिः व्यभिचारात् ; कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात् भावप्रत्यासत्तेरेकार्थोद्‌भूतानेकपुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वात् , द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव पारिशेष्यात् संभाव्यते । सा चैकद्रव्यतादात्म्यलक्षणत्वात् प्रत्यासत्तिविशेष इति कथंचिदैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धनं चित्रज्ञानस्य ।

§ ३०. तदेवं प्रमाणप्रसिद्धचित्रज्ञानवत् सूक्ष्मस्थूलात्मनि जात्यन्तरे[४] स्याद्वादीष्टवस्तुनि वृत्तिदोषाद्यखिलदोषो नावकाशं[8] लभते । अत्रान्यत्र च सर्वत्र विरोधादिदूषणं चित्रज्ञानमेवापहस्तयतीति किं नश्चिन्तया । ततः स्याद्वादीनां[9] संमतः स्थूलाकारः परमार्थ एव सिद्धः । एतेन तदभिमतः साधारणाकारोऽपि परमार्थतया सिद्धः स्याद्वादिसंमतस्य सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्याप्रतिक्षेपार्हत्वात् , अन्यथा शुक्तिकादे रजताद्यपेक्षया साधर्म्य[10]दर्शनस्याभावात् , कथं तन्निबन्धनस्तत्र

१. परमाणवः परमाणव एव न तु अन्यरूपा अवयविरूपा वा भवन्ति इत्येकान्तवादिनाम् । २. रूक्षस्य रूक्षेण द्व्याधिकेन, स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्याधिकेन । स्निग्धस्य रूक्षेण भवति बन्धः, जघन्यवर्ज्ये विषमे समे वा ॥ उद्‌धृतम्—सर्वा० पृ० ३०७ । ३. बौद्धैरपि । ४. कथंचित् नित्यानित्यात्मनि ।

1. -मनन्यतैकान्त—ग० । 2. जघन्यगुणानां विजातीयानां च सक्तु क०, ख० । 3. लक्ख क०, ख० । 4. उवेइ क०, ख० । 5. —पादित्वाच्च क०, ख० । 6. संबन्धः सिद्धः । 7. -वयव्याप्येतत्वं तत्र क०, ख० । 8. वावकाशं क०, ख० । 9. वादि स— ग० । 10. साधर्म— क०, ख० ।

रूप्या[१]ध्यारोपः, यत इदं सूक्तं भवेत् ।

"शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात् ॥"

[प्र० वा० १।४५] इति

§ ३१. न च साधर्म्यादपरं सामान्यमस्ति, तस्य नित्यव्यापिस्वभावस्य क्वचिदप्यप्रतिवेदनात् । तथा स्याद्वादिसंमतः[1] स्थिराकारः[2] परमार्थ एव, चित्रज्ञानस्यैकस्य युगपदनेकाकारव्यापित्ववत् क्रमेणाप्येकस्यात्मादेरनेकाकारव्यापित्वसिद्धेः । तथैवोक्तं भट्टाकलङ्कदेवैः—

"यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद्व्याप्नोति वा सकृत् ।
तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद् व्याप्नोति वा क्रमात् ॥"

[लघी० श्लो० ३७] इति

पूर्वोत्तरक्षणानां सर्वथानिरन्वयत्वे[२] अर्थक्रियाविरोधाच्च । न हि क्षणक्षयैकान्तपक्षे अर्थक्रियोपपन्ना; बहिरन्तरर्थानां निरन्वयविनाशे कार्यस्य निर्हेतुकत्वापत्तेर्जन्मविरोधसिद्धेः ।

§ ३२. ननु पूर्वक्षणादुत्तरक्षणस्य प्रादुर्भावात् कुतो निष्कारणत्वं कार्यस्येति चेत्; न; [३]कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वानुपपत्तेः, चिरतरातीतवत् ।

§ ३३. ननु कार्यकालं प्राप्नुवतोऽपि न कारणत्वम्, अन्यथा सर्वस्य समानक्षणवर्तिनस्तत्कारणत्वप्रसंगात् । ततो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि कार्यं[3] तदेव तस्य कारणम् **"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् ।"** [ ] इति वचनात् इति चेत्; न; क्षणक्षयैकान्ते अन्वयव्यतिरेकस्यैवाघटनात् ।

§ ३४. न खलु समर्थे कारणे [4]सत्यभावतः स्वयमेव पश्चादभवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानं नाम नित्यवत् । 'स्वदेशवत् स्वकाले सति समर्थे कारणे कार्यं जायते नासति' इत्येतावता क्षणिकपक्षे अन्वयव्यतिरेकानुविधाने नित्येऽपि [४]तत् स्यात्; स्वकालेऽनाद्यनन्ते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेश्च प्रतीयमानत्वात् ।

§ ३५. सर्वदा नित्ये समर्थे सति स्वकाल एव कार्यं भवत् कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्; तर्हि कारणक्षणात्[5] पूर्वं पश्चाच्चानाद्यनन्ते तदभावेऽविशिष्टे[6] क्वचिदेव तदभावसमये भवत् कार्यं कथं तदनुविधायीति समानम् । नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोऽनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत्; क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः । स हि क्षणस्थितिरेकोऽपि भावोऽनेकस्वभावो विचित्रकार्यत्वात् नानार्थक्षणवत् ।

§ ३६. न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत् । यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादि[7]स्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मात् प्रदीपादिक्षणात् वर्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेरपि नानात्वं न स्यात् ।

---

१. रूप्यम्—रजतम् । २. एकद्रव्यान्वयाभावे । ३. तुलना—अष्टश० अष्टस० पृ० ८७ । ४. अन्वयव्यतिरेकानुविधानम् ।

1. स्याद्वादादि क०, ख० । 2. स्थिराकारोऽपि ग० । 3. विधायि तदेवस्य- क०, ख० । 4. -भावतः क० । 5. -णक्षयात् क०, ख० । 6. -भावे विशिष्टे क० । 7. रूपादे स्व- क०, ख० ।

§ ३७. ननु च शक्तिमतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः[१] शक्तीनामघटनात्तासां[1] परमार्थसत्त्वाभावः; तर्हि रूपादीनामपि प्रतीतिसिद्धद्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरविकल्पयोरसंभवात् परमार्थसत्त्वाभावः स्यात् । स्याद्वादिभिश्चित्रज्ञानवत् जात्यन्तरस्य शक्तिमतोऽर्थस्योपगमाच्च नोक्तदोषानुषङ्गः ।

§ ३८. अथ प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभाससमानत्वाद्रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनस्तच्छक्तयस्तासामनुमानबुद्धौ प्रतिभाससमानत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्; क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसंगात् । ततो यथा क्षणिकस्य युगपदनेककार्यकारित्वेऽप्येकत्वाविरोधस्तथा अक्षणिकस्य क्रमशोऽनेककार्यकारित्वेऽपीत्यनवद्यं स्थिराकारोऽपि परमार्थ इति ।

§ ३९. तदेवं सकलबाधकाभावादप्रतिक्षेपार्हाणामार्हताभिमतानां स्थिरस्थूलसाधारणाकाराणां[2] परमार्थत्वसिद्धेः[3] अभ्रान्तेन तद्ग्राहिप्रत्यक्षेण स्वलक्षणलक्षणतत्त्वस्य विरुद्धत्वं सिद्धयत्येव ।

§ ४०. ननु नैष दोषः, सौगताभिमतस्वलक्षणतत्त्वस्य अवाच्यत्वादिति चेत्; तदसंगतम्; अवाच्यशब्देन स्वलक्षणतत्त्वस्य वाच्यत्वात् स्ववचनेनैव स्वप्रतिज्ञा[4]हानेर्दर्शनात् ।

§ ४१. नन्ववाच्य[5]शब्देनापि न स्वलक्षणस्वरूपमुच्यते [२]तेनारोपितसामान्याकारस्यैवाभिधानादिति चेत्, व्याहतमेतत् । सामान्याख्यपररूपवाचिना अवाच्यशब्देन स्वलक्षणस्वरूपाभिधानस्य विरुद्धत्वात् नीलशब्देन पीताभिधानवत् । तदुक्तं युक्त्यनुशासने स्वामिभिः—

"अवाच्यमित्यत्र[6] च वाच्यभावादवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत् पररूपवाचि स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ।"

[युक्त्यनु० श्लो० २९] इति

§ ४२. ततो नावाच्यतैकान्तः श्रेयानिति कथमपि प्रत्यक्षविरोधो दुःशकः परिहर्तुम् । तस्मात् सुव्यवस्थितेयं [३]प्रतिज्ञा दृष्टविरुद्धं शाक्यशासनमिति ।

§ ४३. तथा ताथागतशासनमिष्टविरुद्धम् । तदभिमतक्षणक्षयैकान्तविरुद्धस्य आत्मादीनां कथंचिन्नित्यत्वस्यानुमानेन साधनात् । तथा हि—'यत् सत् तत्सर्वं कथंचिन्नित्यम्, सर्वथा क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तेः' इति । अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वम्; सर्वथा नित्यत्वे सत्त्वस्याभावात्, सर्वथा क्षणिकत्ववत् । तदभावश्च क्रमाक्रमानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात्; सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च । न हि कूटस्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्तः; क्षणिके चान्वितं रूपमस्ति यतः क्रमः [7]कालकृतो देशकृतो वा स्यात् । नापि युगपदनेकस्वभावत्वं यतो यौगपद्यम्, कौटस्थ्यविरोधात्, सर्वथैकरूपत्वात् कूटस्थस्य । **"एकरूपतया तु यस्त्रिकालव्यापी सः [8]कूटस्थः"** [ ] इत्यभिधानात्, निरन्वयक्षणिकत्वव्याघाताच्च, तथा क्रमाक्रमानेकान्तात्मकस्यैव सिद्धेः । सहकारिक्रमाक्रमापेक्षया [४]तत्र क्रमयौगपद्यकल्पनापि न साधीयसी; स्वयं [५]तदपेक्षाक्रमेतरस्वभावत्वाभावे तदनुपपत्तेः ।

---

१. भेदाभेदपक्षयोः । २. शब्देन । ३. बौद्धेन कृता यत् शाक्यशासनं दृष्टाविरुद्धमिति । ४. नित्ये । ५. सहकार्यपेक्षा स्वयं तत्स्वभावस्यैव संभाव्यते ।

1. -टनात्तानां पर- क० । 2. -लपाधारणाकारणां क० । 3. सिद्धिः क०, ख० । 4. -नैव प्रतिज्ञा क०, ख० । 5. नन्वाच्य- क०, ख० । 6. —मित्यस्य ग० । 7. क्रम क०, ग० । 8. —तया तु यः कालव्यापि सकूटस्थः क०, ख० ।

§ ४४. तत्कार्याणां तदपेक्षा न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य चेत्यपि न श्रेयः; तेषां तदकार्यत्वप्रसंगात् ।

§ ४५. तत्सहितेभ्यः सहकारिभ्यः कार्याणामुत्पत्तेः, अन्यथाऽनुत्पत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णयः इति चेत् तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा सहभावः तेनैव सर्वसहकारिणा यदि तस्य स्यात् तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणात् क्रमकार्यानुत्पत्तिः । सहकार्यन्तराभावेऽपि च तत्सहभावात् सकृदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत । स्वभावान्तरैः सहकार्यन्तरसहभावे तस्य क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकत्वस्वभावं[1] क्षणिकं वा[2] वस्तु क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकं स्यात्, कथंचिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्वप्रतीतेः ।

§ ४६. एतेन विपक्षे हेतोर्बाधकस्य व्यापकानुपलम्भस्य[१] व्यतिरेकनिश्चयः कथंचिन्नित्ये प्रत्यक्षप्रवृत्तेः प्रदर्शितः प्रत्येयः । ततः सत्यं[3] कथंचिन्नित्यमेव साधयतीति सिद्धं शौद्धोदनिशासनमिष्टविरुद्धमिति ।

§ ४७. तथा च शुभाशुभानुष्ठान-पुण्य-पाप-श्वभ्र-स्वर्गादि-परलोक--बन्ध--बन्धकारण-मोक्ष-मोक्षकारण-बन्धमोक्षफल-बद्ध[4]-मुक्तादिपरोक्षतत्कारणस्वरूपप्रतिपादकोऽपि बौद्धागमो न प्रमाणम्; दृष्टेष्टविरुद्धागमसमकर्तृकस्य तस्यातीन्द्रिये[5]ष्वतितरामप्रामाण्यापत्तेरिति[6] न बौद्धानां धर्मानुष्ठानं प्रतिष्ठामियर्ति । किं बहुना, बौद्धैर्यद्यदभिधीयते तत्सर्वमसदेव तदभिमतसर्वतत्त्वस्य शून्यत्वात् ।

§ ४८. तथा हि [२]विकल्पोऽभिलापसंबन्धार्थग्रहणरूपः परैरिष्टः । स च नास्त्येव । न हि तावद्विषयस्याभिलापेन तद्गतेनैव संबन्धः, तत्र तदभावात् । स्मरणोपनीतेन [7]संकेतकालप्रतिपन्नेनेति चेत्; न; स्मरणस्य निर्विकल्पकत्वे तद्विषयस्य स्वलक्षणत्वे न क्वचिदुपनयनानुपपत्तेः । व्यवसायरूपत्वे च तेनापि स्वविषयोऽभिलापसंबन्ध एव स्मर्त्तव्यः । तदभिलापोऽपि तथाविध एव तत्स्मरणेनेत्यनवस्थितिप्रसंगात् । स्मरणस्य तदनभिसंबन्ध[8]वस्तुवेदित्वेऽपि व्यवसायस्वभावत्वे प्रत्यक्षस्यापि तत्किं न स्यात्, '[9]स्वाभिधानविशेषापेक्षया एवार्था निश्चयैर्व्यवसीयन्ते' इत्येकान्तत्यागात् । नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात् ।

§ ४९. एवमनवस्थादिदोषोपनिपातान्नामस्मरणाभावेन क्वचिद्विकल्पा न [10]सिद्ध्येत् । स्मरणोपनीतनामसंबद्धार्थग्रहणस्यैव[11] विकल्पत्वात्[12] । विकल्पाभावेन न[13] क्वचित्प्रत्यक्षम् । अकृतविकल्पेन प्रत्यक्षेण बहिरन्तर्वा गृहीतस्याप्यगृहीतकल्पत्वात् क्षणक्षयादिसंवेदनवत् । प्रत्यक्षाभावे न क्वचिदनुमानम् [14]प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्तस्येति सकलप्रमाणाभावः । [३]तदभावे सकलप्रमेयाभावः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेरिति सौगताभिमतं सर्वं तत्त्वं शून्यमेव स्यात् ।

---

१. क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोरनुपलम्भः । २. "विकल्पो नाम संश्रयः" [प्र० वा० २।१२३] इत्यभिधानात् । ३. प्रमाणाभावे ।

1. –मेकस्व-, ग० । 2. भावा क० । 3. सत्त्वम् क०, ख० । 4. –मोक्षबद्ध- ख० । 5. –षति- क०, ख० । 6. प्रामाण्योपपत्तेरि- क०, ख० । 7. –नीते सं. ख० । 8. संबद्ध- क०, ख० । 9. स्वाभि –क०, ख० । 10. –कल्पः सिद्ध्येत् ग० । 11. संबन्धार्थ– ग० । 12. विकल्पात् क०, ख० । 13. 'न' ख प्रतौ नास्ति । 14. –मानप्रत्यक्षकत्वात् क०, ख० ।

§. ५० तथा च सौगतो हेयोपादेयोपायरहितोऽयमह्रीकः केवलं विक्रोशतीत्युपेक्षार्ह एवेति कृतमतिविस्तरेण, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात्तन्मतस्यासत्यत्वसिद्धेः ।

दृष्टेष्टेषु दृष्टेष्टविरोधात् सुगतोदितः ।
परोक्षेषु तदेकत्वादागमो न प्रमाणताम् ॥
विकल्पाभावतः सर्वहानेर्बौद्धवचोऽखिलम् ।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम् ॥
दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धत्वान्न सत्यं शाक्यशासनम् ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति[1] निश्चितम् ॥

[इति बौद्धशासनपरीक्षा]

---

1. –दश्चेति –क०, ख० ।

[सांख्यशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्षः]

§१. तथा सांख्यशासनमपिदृष्टेष्टविरुद्धम् । एवं हि [1]तावदाख्यान्ति सांख्याः— सर्वमिदं जगत्प्रधानमयम्;[१] प्रधानं च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थास्वरूपम् । तथा च तद्ग्रन्थाः—

"सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमवष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः साम्यावस्था भवेत्प्रकृतिः ॥"

[सांख्यका० १३]

§ २. तत्र यदिष्टं प्रकाशकं लघु तत्सत्त्वमित्युच्यते । सत्त्वोदयात् प्रशस्ता एव परिणामा जायन्ते । यच्च चल[2]मवष्टम्भकं दारकं ग्राहकं वा तद्रज इत्युच्यते । रजस उदयाद्रागपरिणामा एव जायन्ते । यद्गुरु आवरणकमज्ञानहेतुभूतं तत्तम इति निरूप्यते । तमस उदयात् द्वेषादज्ञानपरिणामा एव जायन्ते । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥"

[सांख्यका० २२]

§३. जगदुत्पादिका प्रकृतिः, 'प्रधानं बहुधानकम्' इति प्रकृतेरभिधानानि । ततः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते । आसर्गप्रलयस्थायिनी बुद्धिर्महान् । ततो महतः सकाशादहंकार उत्पद्यते । 'अहं ज्ञाता[3], अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यादि प्रत्ययविषयः । ततोऽहंकाराद् गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः[4], पञ्चतन्मात्राः, स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्राणि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, वाक्-पाणि-पादपायू[२]पस्थानि[3] पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, मनश्चेति षोडशगणाः समुत्पद्यन्ते । तेषु षोडशगणेषु[5] पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि समुत्पद्यन्ते ।

§ ४. तद्यथा—गन्धरूपरसस्पर्शेभ्यः पृथिवी, रसरूपस्पर्शेभ्यो जलम्, रूपस्पर्शाभ्यां तेजः, स्पर्शाद्वायुः, शब्दादाकाशः समुत्पद्यत इति सृष्टिक्रमः । एतानि चतुर्विंशतितत्त्वानि । पञ्चविंशको जीवः । षड्विंशकः परम[४] इति निरीश्वरसांख्याः । षड्विंशको महेश्वरः, सप्तविंशतिः परम इति सेश्वरसांख्याः । तेषु तत्त्वेषु—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥"

[सांख्यका० ३]

१. प्रधानमिति प्रकृतेर्नामान्तरम् । २. मलविसर्जनद्वारम् । ३. मूत्रविसर्जनेन्द्रियम् । ४. मुक्तः ।

1. एवं तावदा. क०, ख० । 2. जलम- क०, ख० । 3. ज्ञात्वा क०, ख० । 4. स्पर्शनश- क०, ख० । 5. गुणेषु क० ।

§ ५. इत्येवं प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन[1] स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्षः । तस्य चोपायः पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानमेव ।

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे स्थितः ।
जटी मुण्डी शिखी केशी मुच्यते नात्र संशयः[१] ॥"

[ ] इति वचनात्

[उत्तरपक्षः]

§ ६. तदेतत्कपिलमतं दृष्टविरुद्धम् । तथा हि—तावत्पुरुषव्यतिरिक्तसर्वार्थाः प्रधानमयाः कापिलैरिष्टाः । तच्च प्रधानं सर्वदा वर्तते नित्यत्वात्, सर्वत्र च वर्तते तस्य व्यापकत्वेनाभ्युपगमात्, सर्वत्र च संपूर्णतया वर्तते तस्य सर्वथानिरवयवत्वेनेष्टत्वात् । तथा च 'सर्वं सर्वत्र वर्तते' इत्यायातम् । 'सर्वमयं प्रधानं सर्वत्र साकल्येन वर्तते' इत्यभ्युपगमे 'सर्वं सर्वत्र वर्तते'इत्यस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात् ।

§ ७. नन्विष्टापादनमिदं सर्वं सर्वत्र चास्त इति कापिलैरुररीकरणादिति चेत्; तदिदं हि स्पष्टं दृष्टविरुद्धम् ; प्रत्यक्षेण प्रतिनियतदेशकालस्यैवार्थस्य दर्शनात् । न हि प्रत्यक्षेण सर्वं सर्वत्र दृश्यते । अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतादेरपि दर्शनप्रसंगात् ।

§ ८. ननु नैष दोषः सर्वस्य सर्वत्र सद्भावेऽपि यत्र यस्याविर्भावः स एव तत्र दृश्यते न पुनरन्यस्तिरोहितः, इत्यर्थानां दर्शनयोग्यायोग्यत्वव्यवस्थितेरिति चेत्; कोऽयमाविर्भावो नाम— प्रागनुपलब्धस्य व्यञ्जकव्यापारादुपलम्भ इति चेत्; स च नित्यो वाऽनित्यो वा; यद्यनित्यः, तदा स प्रागसन् कारणैः क्रियेत, अन्यथा नित्यत्वप्रसंगात्, तथा च घटादिरपि तद्वत् प्रागसन् कारणैः क्रियताम्,[2] न चैवं, सत्कार्यवादविरोधात् । आविर्भावः प्रागसन् कारणैः क्रियेत न[3] पुनर्घटादिरिति स्वरुचिवचनमात्रं निरुपपत्तिकत्वात् । यदि नित्यः, तदा तदेव सर्वत्र सर्वस्य दर्शनं स्यात्, आविर्भावस्य सदा सत्त्वात् ।

§ ९. अथाविर्भावस्य प्राक्तिरोहितस्य सत एव [4]कारणैराविर्भावान्तरमिष्यते, तर्हि तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदाविर्भावनमित्यनवस्थानान्न कदाचित् घटादेराविर्भावः स्यात् ।

§ १०. अथाविर्भावस्योपलम्भरूपस्य तद्रूपाविर्भावान्तरानपेक्षत्वात्[6] प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्ववन्नानवस्थेति मतम्; तर्हि तस्य कारणस्य कारणादात्मलाभोऽ[7]भ्युपगन्तव्यः, उत्पत्तिअभिव्यक्तिभ्यां प्रकारान्तराभावात् तत्र चोक्तदोष इति नाविर्भावः सिद्ध्येत् ।

§ ११. यत्तेन तिरोभावेऽपि[8] प्रत्यादिष्टप्रायः[9] तस्य नित्यानित्यपक्षयोरुक्तदोषानुषङ्गात् । आविर्भावस्य निरस्तत्वेन तृतीयपक्षस्य चाऽसंभवात् । एवमाविर्भावतिरोभावयोरसिद्धौ तद्वशात् क्वचित्कस्यचित् प्रतीतेरनुपपत्तेः सर्वं सर्वत्र दृश्यताम् । न चैवम्; इति प्रत्यक्षविरोधस्तदवस्थ[10]एव ।

१. श्लोकोऽयं सांख्यका० माठरवृत्तौ 'यदुक्तम्' इति कृत्वा उद्धृतः ।

1. चैतस्याप- क०, चैतन्ययोगेन ख० । 2. क्रियाम् क०, ख० । 3. क्रिये न क० । 4. एवाकारणै ख० । 5. कदाचिर्घ- क० । 6. -तरापेक्ष- क० । 7. लाभोऽप्युप- क० । 8. -भावोऽपि ग० । 9. -धिष्ट क० । 10. -वस्थं वा क०, ख० ।

§ १२. तथा सत्युपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलब्धेः नास्ति प्रधानम् । तदभावे तन्निमित्तका महदादयोऽपि न सिद्ध्येयुरिति सर्वाभावः । तथापि यदि वैय्यात्यात् महदादिसृष्टिप्रक्रियोच्यते, तदायं प्रष्टव्यः—किमिदं महदादिकं प्रधानस्य कार्यं वा परिणामो वेति, प्रथमपक्षे न तावत् सतस्तस्य कार्यत्वम्; सर्वथा सतः [1]कारणवैयर्थ्यात् पुरुषवत् ।

"यदि सत् सर्वथा[2] कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।"
[आप्तमी० श्लो० ३९] इति वचनात् ।

नाप्यसतः;

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥"
[सांख्यका० ९]

इति [3]स्वसिद्धान्तविरोधात् । सर्वथाप्यसतः उत्पत्तिविरोधाच्च ।

"यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत् ।"
[आप्तमी० श्लो० ४२] इति वचनात् ।

§ १३. द्वितीयपक्षे परिणामिनो[4] बहुधानकस्य परिणामा महदादयोऽत्यन्तं भिन्ना वा स्युः अभिन्ना वा, तत्र परिणामानां तदभिन्नानां [5]क्रमशो वृत्तिर्मा भूत् परिणामिनोऽक्रमत्वात् । ततो भिन्नानां व्यपदेशो न स्यात् संबन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात् ।

§ १४. न तावत् प्रधानं परिणामानामुपकारकम्; तत्कृतोपकारान्तरस्य कार्यत्वे सदसत्पक्षोक्तदोषानुषंगात् । परिणामत्वेतरभिन्नानां क्रमोत्पत्तिर्मा भूत् । भिन्नानां व्यपदेशो न स्यात् संबन्धासिद्धेरनुपकारात् । उपकारान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात् । परिणामैः प्रधानस्योपकारे यावन्तो हि परिणामास्तावन्तस्तस्योपकारास्तत्कृतास्ततो यदि भिन्नाः, तदा तस्येति व्यपदेशोऽपि मा भूत् संबन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात् । [6]तद्वतस्तैरुपकारान्तरेऽपि स एव पर्यनुयोगः इत्यनवस्था । ततस्ते यद्यभिन्नास्तदा तावद्धा प्रधानं भिद्येत । ते वा प्रधानैकरूपतां प्रतिपद्येरन्निति प्रधानस्योपकाराणां चावस्थानासम्भवः ।

§ १५. अथ न भिन्नो नाप्यभिन्नः परिणामः केवलं महदादिरूपेण प्रधानं परिणमते दण्डकुण्डलाद्याकारैः सर्पवदिति चेत्; तदेतत् स्वेष्टनित्यैकान्तबाधकम्; पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामाभ्युपगमे [7]नित्यानित्यात्मकत्वस्यावश्यम्भावात् ।

§ १६. तदेवमनेकबाधकोपनिपातात्[8] प्रधानादिचतुर्विंशतितत्त्वानि न व्यवतिष्ठन्ते । तदव्यवस्थितौ भोग्याभावे पुंसो भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात्तस्यैं तल्लक्षणत्वात् । ततः प्रकृतिपुरुषतत्त्वयोरवस्थानाभावात् सांख्याभिमतं सर्वं तत्त्वं पुनरपि शून्यं जायत इति तत्कथं प्रत्यक्षसिद्धं स्यात्;

१. विपरीताग्रहात् । २. पुरुषस्य ।

1. करणवै- क०, ख० । 2. सर्वदा क० । 3. इति सिद्धान्त ग० । 4 परणामिनो क०, ख० । 5. क्रमतो ग० । 6. तद्वतस्तैरकालैरुप- ग० । 7. यात्वक क० । 8. -को निपातात् क०, ख० ।

स्यात्, उर्वीपर्वततर्वादिपदार्थानां ब्रह्ममयत्ववत् प्रधानमयत्वस्यापि प्रत्यक्षेणानुपलक्षणात् सिद्धं सांख्यशासनं दृष्टविरुद्धम् ।

§ १७. तथा तदिष्टविरुद्धं च । कापिलाभिमतस्य कूटस्थनित्यपुरुषस्य कथंचित्तदनित्यत्वसाधकानुमानेन विरुद्धत्वात् । तच्चेदम्—विवादापन्नः पुरुषः स्यादनित्यः, अनित्यभोगाभिन्नत्वात् । यदित्थं तदित्थं दृष्टम्; यथा भोगस्वरूपमिति । नासिद्धं भोगस्यानित्यत्वम्, 'अनित्यो भोगः उत्पत्तिमत्त्वात्, ज्ञानवत्' इत्यनुमानात्तत्सिद्धेः[1] ।

§ १८. कथमुत्पत्तिमान् भोग इति चेत्, परापेक्षत्वात्तद्वदेव परापेक्षोऽसौ बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् । **"बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते"** [ ] इति वचनात् । भोगस्य बुद्ध्यध्यवसायानपेक्षत्वे पुंसः सर्वत्र सर्वदा सर्वभोगप्रसंगात् । भोग्यसंनिधिसव्यपेक्षतया [2]कादाचित्कत्वाच्चानित्यः सिद्धो भोगः । तस्य च पुरुषाद् भेदे तेन तस्य गगनादेरिव पुरुषान्तरस्यैव वा भोक्तृत्वानुपपत्तेः । ततो भोगस्याभेदे तद्रूपतया पुरुषस्य कथंचिदनित्यत्वं सिद्ध्यतीति सम्यगिदं साधनमात्मानित्यत्वं साधयति । ततः सूक्तम्—सांख्यमतमिष्टविरुद्धमिति ।

§ १९. तथा चतुर्विधवर्णाश्रमतत्तद्विधेयविविधाचारपुण्य-पाप-परलोक-बन्ध-मोक्ष-तत्कारण-तत्फल-बद्ध-मुक्तादिस्वरूपप्रतिपादकः सांख्यागमो न प्रमाणं दृष्टेष्टविरुद्धागमाभिन्नस्य तस्य परोक्षतत्कारणेषु प्रामाण्यसंभावनानुपपत्तेरिति न तेषां धर्मानुष्ठानं प्रतिष्ठामियर्ति । किमत्र बहुनोक्तेन यत् किंचित् सेश्वरनिरीश्वरसांख्यैरसंख्यावद्भिराख्यायते तत्सर्वं मृषैव, तदभिमतसकलतत्त्वानामा[3]विर्भावाद्यपाकरणद्वारेण शून्यत्वस्यापादितत्वादित्यलं प्रसंगेन, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात् सांख्यशासनस्यासत्यत्वसिद्धेः ।

दृष्टेष्टेषु[4] दृष्टेष्टविरोधात् सांख्यसंमतः ।
परोक्षेषु तदेकत्वादागमो न प्रमाणताम्[5] ॥
आविर्भावच्युतौ सर्वच्युतेः सांख्यवचोऽखिलम् ।
भवेत् प्रलापमात्रत्वात् नावधेयं विपश्चिताम् ॥
न सांख्यशासनं सत्यं दृष्टदृष्टेष्टबाधतः ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम् ॥

[इति सांख्यशासन-परीक्षा]

१. पुरुषात् ।

1. -मानात्सिद्धेः क०, ख० । 2. कदाचित्- क०, ख० । 3. तत्त्वामावि- क० । 4. दृष्टेष्विष्टेषु ख०, ग० । 5. प्रमाण्यताम् क०, ग० । 6. -दृश्चेति क०, ख० ।

५

[वैशेषिकशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्षः]

§ १. अथ वैशेषिकमतमपि दृष्टेष्टविरुद्धम् । तावदिदं हि तेषामाकूतम्— बुद्धिसुखदुखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवानामात्मविशेष[1]गुणानामत्यन्तोच्छित्तावात्मनः स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः[1], अन्यथा आत्मनोऽत्यन्तविशुद्ध्यभावादिति । **"द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं[2] निःश्रेयसहेतुः ।"** [प्रश० भा० पृ० ६] शैवपाशुपतादिदीक्षाग्रहण-जटाधारण-त्रिकालभस्मोद्धूलनादितपोऽनुष्ठानविशेषश्च ।

§ २. **"तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि सामान्यविशेषसंज्ञोक्तानि नवैव । तद्व्यतिरेकेण संज्ञान्तरानभिधानात् ।" "गुणाः रूप-रस गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्च कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः ।"** [प्रश० भा०, पृ० १०] **"उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानीति पञ्चैव कर्माणि । गमनग्रहणाद्भ्रमणरेचनस्पन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्यग्पतननमनोन्नमनादयो गमनविशेषा न जात्यन्तराणि[3] ।"** [प्रश० भा०, पृ० ११] **"सामान्यं द्विविधम्, परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम् ।**

§ ३. **"तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्, सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव । द्रव्यत्वाद्यपरम् अल्पविषयत्वात् । तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात्सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः । ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वात् विशेषा एव । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः ।**

§ ४. **"एवं धर्मैर्विना धर्मिणामुद्देशः कृतः । षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वमभिधेयत्वं ज्ञेयत्वम् । आश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः[4] । द्रव्यादीनां पञ्चानामपि समवायित्वमनेकत्वं च । 'गुणादीनां पञ्चानामपि[2] निर्गुणत्व-निष्क्रियत्वे ।"** [प्रश० भा०, पृ० ११–१६] इत्याद्यनेकविधं साधर्म्यं वैधर्म्यं चेति तत्त्वज्ञानं मोक्षहेतुः । तद्यथा, **"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये[3] तदनन्तराभावादपवर्गः ।"** [न्यायसू० १।१।२]

§ ५. तत्र तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानं निवर्तते; मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तज्जन्यरागद्वेषनिवृत्तिः; तद्दोषनिवृत्तौ तज्जन्यकायवाङ्मनोव्यापाररूपप्रवृत्तिनिवृत्ति[4]ः; तत्प्रवृत्तिनिवृत्तौ तज्जन्यपुण्यपाप-

---

१. 'नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः ।'—प्रश० व्यो० पृ० ६३८ । २. 'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञान्निःश्रेयसः ।'—वैशे० सू० १।१।४। ३. किं तु गमन एवान्तर्भूतानि । ४. नित्यद्रव्याणि न कार्यद्रव्यवत् स्वकारणाश्रितानि भवन्ति ।

1. नवानामात्मगुणविशेषाणाम् क०, ख० । 2. –दीनामपि क०, ख० । 3.—त्तरपाये क०, ख० । 4. प्रवृत्तिनिंवर्तते ख० ।

बन्धलक्षणजन्मनिवृत्तिरित्यागामिकर्मबन्धनिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानादेव भवति । प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षयस्तु भोगादेव नान्यथा । तथा चोक्तम्—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥"

[ ] इति

§ ६ . तत्रापि—

"कुर्वन्नात्मस्वरूपज्ञः भोगात्कर्मपरिक्षयम् ।[1]
युगकोटिसहस्राणि कृत्वा तेन विमुच्यते ॥"

[ ]

इत्येकः पक्षः ।

"आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वरः ।
प्राप्य योगबलं कुर्यात् तैश्च सर्वां महीं चरेत्[2] ॥
भुञ्जीत विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यस्तेजोगणानिव ॥"

[ ] इति

एकस्मिन्नेव भवे बहुभिः शरीरैः प्रागुपार्जिताशेषफलभोग इत्यपरः पक्षः । ततश्च भोगात् प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षये[3] एकविंशतिभेदभिन्नदुःखनिवृत्तिरिति ।

§ ७. तानि दुःखानि कानीति चेत्[4],

"संसर्गः सुखदुःखे च तपा[था]र्थेन्द्रियबुद्धयः ।
प्रत्येकं षड्विधाश्चेति दुःखसंख्यैकविंशतिः ॥"

[ ] इति

सकलपुण्यपापपरिक्षयात् तत्पूर्वकबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्काराणामपि परिक्षये आत्मनः कैवल्यं मोक्ष इति ।

[उत्तरपक्षः]

§ ८. तदेतदौलूक्यशासनं[5] तावत् [6]दृष्टविरुद्धम् । तदभिमतस्यावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्भेदैकान्तस्य तद्भेदग्राहिणा प्रत्यक्षेण [7]विरुद्धत्वात् ।

§ ९. न ह्यवयव्यादिरवयवादिभ्यः सर्वथा भिन्न एव प्रत्यक्षे प्रतिभासते, अपि तु कथंचिदभिन्न एव । तन्तुभ्यः तदातानवितानावस्थाविशेषरूपस्य पटस्य कर्पट्यादेश्चित्रज्ञाने नीलादिनिर्भासवत्; तत्रैकलोलीभावमुपगतानां[9] रूपादीनां गच्छतः, पुरुषाद् बाल्यादिवत्, स्थित्यादिवद्वा तदवस्था विशेषभूतक्रियायाः सामान्यवतोऽर्थाद् वैसादृश्यवत्तद्धर्मभूतसादृश्यलक्षणसामान्यस्य अनर्थान्तरतया सकललोकसाक्षिकमध्यक्षेणादध्यवसायात् ।

---

1. –परीक्षयम् क० । 2. इदं पद्यं क०, ख० प्रतौ नास्ति । 3. –कर्मपरिकर्मक्षये क०, ख० । 4. तानि चेत् ग० । 5. -लुक्यशा क० । 6. -नं दृष्ट- ग० । 7. प्रत्यक्षेणावि- ग० । 8. चित्रपट्यादौ इत्यर्थः । कर्कट्यादेः क०, ख । 9. लोविभा- ग० । 10. –णाध्यवसायात् क०, ख० ।

§ १०. ननु समवायात्तेभ्योऽवय[1]व्यादिरर्थान्तरमिव प्रतिभासत इति चेत्; न, अवयव्यादिप्रत्यक्षस्य सर्वत्र भ्रान्तत्वप्रसंगात्, तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्य [१]धावध्वादिदर्शनवदसदाकारविशिष्टार्थग्रहणात्। तथा चाव्यभिचारित्वं [२]प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात्।

§ ११. न चैते अवयवादयः, इमे अवयव्यादयः, समवायश्च तेषामयमिति प्रत्यक्षबुद्धौ [३]विस्रसा भिन्ना सकृदपि प्रतीयन्ते प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीति तेऽमी अमूल्यदानक्रयिणः; प्रत्यक्षबुद्धावात्मानर्पणेन प्रत्यक्षतास्वीकरणात्।

§ १२. न च [2]परोपवर्णितस्वरूपः समवाय एव व्यवतिष्ठते। यतो भिन्नानामभेदप्रतिभास इष्यते। तथा हि नित्यव्यापकैकरूपतया परैरभिमतः स समवायः समवाय्याश्रितोऽनाश्रितो वा, यदाश्रितः तदा परमार्थतः, उपचाराद्वा, तत्र न परमार्थतः समवायः समवाय्याश्रितः [४]तयोः संबन्धाभावात्। न हि तावत्तयोः समवायः संबन्धः; समवायस्यैकत्वात्। समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तौ तस्यापि तदन्तरेणैव [3]वृत्तिरित्यनवस्थोपनिपातात्। नापि संयोगः, तस्य[५] गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्, द्रव्यत्वाच्च समवायस्य। नापि विशेषणविशेष्यभावः; संबन्धान्तराभिसंबद्धार्थेष्वेवास्य[६] प्रवृत्तिप्रतीतेः दण्डपुरुषादिवत्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात्। न च समवायसमवायिनां संबन्धान्तराभिसंबद्ध[4]त्वम्; संयोगसमवाययोरनभ्युपगमात् विशेषणविशेष्यभावान्तरेण संबद्धत्वे तस्यापि तदन्तरेण संबद्धेष्वेव प्रवृत्तिरित्यनवस्थानात्। नाप्यदृष्टम्, षोढा[७] संबन्धवादित्वव्याघातात्। यदि चादृष्टेन समवायः संबद्ध्येत; तर्हि गुणगुण्या[5]दयोऽप्यत[८] एव संबद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिकल्पनयेति न संबन्धान्तरेण समवायस्य संबन्धः सिद्ध्यति।

§ १३. ननु न [6]समवायस्य संबन्धान्तरेण संबन्धोऽस्माभिरिष्टः येनानवस्थादिदोषाः स्युः, अपि तु अग्नेरुष्णतावत् स्वत एवास्य संबन्धो युक्तः स्वत एव संबन्धरूपत्वात्, न संयोगादीनां [९]तदभावात्। न ह्येकस्य स्वभावोऽन्यस्यापि, अन्यथा स्वतोऽग्नेरुष्णत्वदर्शनात् जलादीनापि तत्स्यादिति चेत्; तदपि प्रलापमात्रम्; यतः प्रत्यक्षप्रसिद्धे पदार्थस्वभावे स्वभावैरुत्तरं वक्तुं युक्तम्।

"प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते।
स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे काऽनुपपन्नता॥"

[ ] इति वचनात्।

अन्यथा तथोत्तरेण[१०] सर्वस्य स्वेष्टसिद्धिप्रसंगात्।

§ १४. न च समवायस्य स्वतः संबन्धत्वं संयोगादीनां तु तस्मादित्यध्यक्षप्रसिद्धम्; तत्स्वरूपस्याध्यक्षागोचरत्वप्रतिपादनात्। **"अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात्, स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्च।"** [प्रश० भा० पृ० ६९७] इति[११] प्रशस्तपादभाष्येऽभिधानात्।

१. गच्छद्वृक्षादिदर्शनवत्। २. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' –न्यायसू० १।१।४। ३. स्वभावेन। ४. समवाय-समवायिनोः। ५. संयोगस्य। ६. विशेषविशेष्यभावस्य। ७. संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषण-विशेष्यभावश्चेति। ८. अदृष्टादेव। ९. स्वतः संबन्धरूपत्वाभावात्। १०. 'स्वभावात्' इत्युत्तरेण। ११. 'तस्मादिह बुद्ध्यनुमेयः समवायः' –प्रश० भा०।

1. एतदन्तर्गतः पाठः क०, ख० प्रतौ नास्ति। 2. रोक्षव– क०, ख०। 3. वृत्तिरित्यवस्थो– ख०। 4. समबन्धत्वम् क०। 5. गुणादयोऽपि ग०। 6. ननु सम– क०, ख०।

'समवायः पदार्थान्तरेण संबद्ध्यमानो न स्वतः संबद्ध्यते संबद्ध्यमानत्वात् रूपादिवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च।

§ १५. यदि चाग्नि-प्रदीपश्च मांसादीनामुष्णप्रकाशाशुचित्ववत् समवायः स्वपरयोः संबन्धहेतुः, तर्हि तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनैव ज्ञानं स्वपरयोः प्रकाशहेतुः किं न स्यात्; तथा च **"ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्"** [ ] [१]इति विप्लवते।

§ १६. किं च, यथा अर्थानां [1]सदात्मकस्य भावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति एवं द्रव्यादीनां [2]वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति, तस्मात् स्वात्मवृत्तिरिति मन्वानः पदार्थानां [3]संवेदनात्मकस्य ज्ञानस्य नान्यतः संवेदनम्, तस्मात् स्वतः संवेदनमिति किं न मन्येत, भाववत्तादात्म्याविशेषात्। तदविशेषेऽपि सत्तादृष्टान्तेन समवायस्यैव स्वतो वृत्तिः स्यान्न पुनर्ज्ञानस्य स्वसंवेदनमिति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। स्वतः संबन्ध इव स्वतः संवेदनेऽपि स्वात्मनि क्रियाविरोधाभावात्, अन्यथा तत्रापि तत्प्रसंगात्। तस्यैकस्यैव संघटनीय-संघटकत्वभावात्।

§ १७. यच्चोच्यते--समवायः संबन्धान्तरं नापेक्षते स्वतः संबन्धत्वात्; ये तु संबन्धान्तरमपेक्षन्ते न ते स्वतः संबन्धाः, यथा घटादयः, न चायं न स्वतः संबन्धः, तस्मात्संबन्धान्तरं नापेक्षत इति; तदपि मनोरथमात्रम्; संयोगेनानेकान्तात्। स हि स्वतः संबन्धः संबन्धान्तरं चापेक्षते। न हि स्वतोऽसंबन्धस्वभावत्वे संयोगादेः [२]परतस्तद्युक्तम्; अतिप्रसंगात्। 'समवायः पदार्थान्तरेण संश्लेषे संबन्धान्तरमपेक्षते, पदार्थान्तरत्वात्, यदित्थं [तदित्थं], यथा संयोगः, तथा चायम्, तस्मात्तथैव, इत्यनुमानबाधितविषयत्वाच्च।

§ १८. किं च, यथा समवायः स्वरूपापेक्षयाऽभेदात् तद्व्यतिरिक्तघटनीय-घटकाकारापेक्षया भेदाभेदाद्भेदात्मकः सिद्ध्यति, तथावयव्याद्यपेक्षयाऽभेदात्तदपृथग्भूतावयवापेक्षयाभेदात् सर्वं वस्तु भेदाभेदात्मकं[4] जात्यन्तरं सिद्ध्येत्, विरोधादिदूषणानां समवायदृष्टान्तेनापसारणात् इत्यर्हन्मतसिद्धिः तस्य तदिष्टत्वात्।

"अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव।" [युक्त्यनु० श्लो० ७] इति वचनात्।

तन्मतसिद्धौ 'पराभिमतभेदैकान्तरूपं वस्तु खपुष्पवदसदेव स्यात्।'

"स्वतन्त्रान्यतरत् खपुष्पम्" [युक्त्यनु० श्लो० ७] इति वचनात्।

§ १९. तदेवं स्वतः परतश्च समवायस्य समवायिषु वृत्तिर्न स्यात्, [३]अवृत्तिमत्त्वात् समवायवृत्तेर्न परमार्थतः समवायः समवाय्याश्रितः परैस्तस्य स्वातन्त्र्याभ्युपगमाच्च। नाप्युपचारात्, उपचारनिमित्ताभावात्।

१. "तस्मात् ज्ञानान्तरसंवेद्यं संवेदनं वेद्यत्वात्। घटादिवत्"—प्रश० व्यो० पृ० ५२९। २. संबन्धस्वभावत्वम्। ३. अन्येन संबन्धेन संबद्धत्वाभावात्।

1. यथा सदात्मक– क०, ख०। 2. एवं वृत्त्यात्मकस्य क०, ख०। 3. –मन्वानः संवे– ख०। 4. –तु भेदात्मकं ग०।

§ २०. ननु निमित्तमुपचारस्य समवायिषु सत्सु समवायज्ञानम्, समवायिशून्यदेशे समवायज्ञानासंभवादिति चेत्; तदसत्; दिगादीनामप्येवमाश्रितत्वप्रसंगात्; मूर्तद्रव्येषु सत्सु उपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु दिग्लिङ्गस्य 'इदमतः[1] पूर्वेण' इत्यादि प्रत्ययस्य काललिङ्गस्य च परत्वापरत्वादिप्रत्ययस्य सद्भावात् मूर्तद्रव्याश्रितत्वोपचारप्रसंगात्। तथा च **"अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः"**[प्रश० भा०, पृ० १६] इति वचनव्याघातः[2], नित्यद्रव्यस्यापि दिगादेरुपचारादाश्रितत्व[3]सिद्धेः। ततो नोपचारादप्याश्रितत्वं समवायस्य।

§ २१. अथानाश्रितः समवायः इति मतम्, तदा न संबन्धः समवायः संबन्धिभ्यां भिन्नस्योभयाश्रितस्यैव[4] संयोगवत् संबन्धत्वव्यवस्थितेः। तथा च प्रयोगः—समवायो न संबन्धः सर्वथाऽनाश्रितत्वात्, यो यः सर्वथाऽनाश्रितः स स न संबन्धः, यथा दिगादिः, सर्वथाऽनाश्रितश्च समवायः, तस्मान्न संबन्ध इति। न चात्रासिद्धो हेतुः, समवायस्य परमार्थत उपचाराच्चाश्रितत्वस्य निराकृतत्वात्।

§ २२. स्यादाकूतम्—समवायस्य धर्मिणोऽप्रतिपत्तौ हेतोराश्रयासिद्धत्वम्, प्रतिपत्तौ धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितः पक्षो हेतुश्च कालात्ययापदिष्टः प्रसज्यते। समवायो हि यतः प्रमाणात्[5] प्रतिपन्नस्तत एवायुतसिद्धसंबन्धत्वं प्रतिपन्नम् अयुतसिद्धानामेव संबन्धस्य समवायव्यपदेशसिद्धेरिति, तदपि न साधीयः; समवायग्राहिणा प्रमाणेनाश्रितस्यैव समवायस्य अविष्वग्भावलक्षणस्य प्रतिपत्तेः,[6] तस्यानाश्रितत्वाभ्युपगमे च असंबन्धत्वस्य प्रसंगेन साधनस्य साधनात्। साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ परस्य व्याप्याभ्युपगमे [२]तन्नान्तरीयकस्य व्यापकाभ्युपगमस्य प्रतिपादनात्। न ह्याश्रितत्वमसंबन्धत्वेन व्याप्तं दिगादिष्वसिद्धम्। नाप्यनैकान्तिकम्; अनाश्रितस्य कस्यचित् संबन्धत्वाप्रसिद्धेः विपक्षे वृत्त्यभावात्। तत एव न [9]विरुद्धं नापि सत्प्रतिपक्षम्; तस्यानाश्रितस्यापि संबन्धत्वव्यवस्थापकानुमानाभावादिति न परेषां समवायसंबन्धोऽस्ति, यतस्तद्वशादभिन्नानामप्यवयव्यादीनामभेदेन प्रतिपत्ति[10]रुपपद्येत। ततस्ते भेदेनैव प्रतियेरन्[11] न चैवमतः प्रत्यक्षविरोधो दुःशकः परिहर्तुं परेषाम्।

§ २३. किं च, प्रतिपादितप्रकारेण समवायस्यासंभवे संयोगस्याप्यसंभवः तस्य कार्यस्य कारणसमवायाभावेऽनुपपत्तेः।

§ २४. एवं संबन्धाभावे न किंचित् वस्तु भेदैकान्तवादिमते व्यवतिष्ठते। तथा हि—तावत् परमाणूनां संयोगाभावे द्व्यणुकादिप्रक्रमेणावयविनोऽनुत्पत्तेः[12] कार्यरूपभूतचतुष्टयाभावः, तदभावे तत्कारण[३]चतुर्विधपरमाणवोऽपि न संभाव्यन्ते; कार्यलिङ्गत्वात् कारणस्य।

"कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम्।"

[आप्तमी० श्लो० ६८]

१. उक्तानुमाने २. तदविनाभाविनः। ३. कार्यभूतपृथिव्यादिकारण।

1. -स्येकदमतः क०, ख०। 2. वचनघातः ग०। 3. -रावाश्रित- क०। 4. -तस्यैकस्यैवा- क०, ख०। 5. प्रमाणाप्रतिपन्नः क०, ख०। 6. प्रतिपत्तिः क०, ख०। 7. असंबन्धस्य क०, ख०। 8. प्रसंगेन साधनात् ग०। 9. -व निरुद्धं क०, ख०। 10. प्रतीति- ख०। 11. प्रतियेतन् क०। 12. -विनोत्पत्तेः क०, ख०।

इति वचनात्। तथा भूतचतुष्टयासत्त्वे [१]परापरादिप्रत्ययापायात्। 'इदमतः पूर्वेण' [२]इत्यादिप्रत्ययापायाच्च [न] कालो दिक्च व्यवतिष्ठते। तथा [३]भेरीदण्डाद्याकाशसंयोगाभावात् [2]संयोगजशब्दस्यानुत्पत्तिः, सर्वत्रावयवसंयोगाभावे [४]तद्विभागस्याप्ययोगाद् विभागजशब्दस्याप्यनुत्पत्तिः; [५]तयोरनुदये शब्दजशब्दस्यासम्भवः; इति सकलशब्दानुत्पत्तेराकाशव्यवस्थापकोपायादाकाशहानिः। तथा आत्मान्तःकरणसंयोगासिद्धेः बुद्ध्यादिगुणानुत्पत्तिः; तदभावे चात्मव्यवस्थाप[3]कोपायासत्त्वादात्मतत्त्वहानिः। तथा बुद्ध्यनुत्पत्तौ मनसोऽसिद्धिः; क्रमतो ज्ञानोत्पत्तेर्मनोलिङ्गत्वात्। **"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्"** [न्यायसू० १।१।१६] इति वचनात्।

§ २५. *एवं संयोगाभावे सर्वद्रव्याभावः। अथवा समवायाभावे सत्तासमवायासंभवात् सर्वद्रव्यः प्रच्युतः। सर्वद्रव्यहानौ तदाश्रितगुणकर्मसामान्यविशेषाणामसिद्धिः आश्रयाभावे सत्याश्रयिणा[म][4]भावात्, *[5]तन्त्वभावे पटाभाववदिति। संसर्गहानेः सकलार्थहानिर्दुर्निवारा वैशेषिकाणामुपनिपतति। तदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रपादैः—

"अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम्।
अवृत्तिमत्त्वात् समवायवृत्तेः संसर्गहानेः सकलार्थहानिः॥"

[युक्त्यनु० श्लो० ७] इति

§ २६. एवं विचार्यमाणाः सर्वथाभिन्नावयवावयव्यादयः स्वयमेव न सन्ति यतः प्रत्यक्षेण प्रतिभासेरन्। तत्प्रत्यनीकाश्च [7]कथंचिद्भिन्नास्ते[६] प्रत्यक्षतः प्रतिभासन्त इति स्थितं दृष्टविरुद्धं शेषिकमतमिति।

§ २७. तथा तदिष्टविरुद्धं च। तथा हि—विवादापन्नं 'तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात् घटादिवत्' इति जगतो महेश्वरकृतत्वं यौगैः व्यवस्थाप्यते, तच्चानुमानविरुद्धम्, तद्बाधकानुमानसद्भावात्। तच्चेदम्—नेश्वरस्तन्वादीनां कर्ता, अशरीरत्वात्, य एवं स एवम्, यथात्मा, तथा चायम्, तस्मात्तथैवेति। न चात्रासिद्धो हेतुः, [७]तस्य शरीरत्वायोगात्। तच्छरीरस्य सावयवस्य[9] नित्यत्वानुपपत्तेः। [10]नित्यस्यापि तच्छरीरस्य बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारात्। तस्य बुद्धिमत्कारणसपूर्वत्वे वा परापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात्। पूर्वपूर्वस्य शरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ [८]भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वसंसारिणां तथा प्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावैयर्थ्यात्। स्वोपभोग्यभुवनाद्युत्पत्तावपि[11] तेषामेव निमित्तकारणत्वोपपत्तेरिति; तत् कार्यत्वाचेतनोपादानत्वसन्निवेशविशिष्टहेतवो गमकाः स्युः। **"अशरीरं वा[12]वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।"** [छान्दो० ८।१२।१] इत्यागमविरोधाच्च।

१. देशापेक्षया अपरस्मिन् परं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति कार्यलिङ्गानि। २. इदमतो दक्षिणेनेत्यादि। ३. भेर्याकाशसंयोगो निमित्तकारणम्। ४. अवयवविभागस्यापि। ५. संयोगजविभागजशब्दयोरभावे। ६. अवयव्यादयः। ७-८. ईश्वरस्य।

1. प्रत्ययादिदमतः क०, ख०। 2. संयोगशब्द- क०, ख०। 3. -कोपायसत्त्व- ग०। 4. —यिणाभावा- क०, ख०। 5. —एतदन्तर्गतः पाठः ग० प्रतौ नास्ति। 6. प्रत्यक्षे प्रति- क०, ख०। 7. कथंचिदभिन्नाः क०, ख०। 8. नात्रासिद्धो क०, ख०। 9. सावयस्य क०, ख०। 10. -तेरनित्यस्यापि ख०। 11. भुवनाद्युत्तावपि क०, ख०। 12. -रं नावसन्तं क०, ख०।

§ २८. एवमशरीरत्वे सिद्धे नेश्वरस्तस्य तन्वादीनां कर्ता स्यात्, वितनुकरणस्य [१]तस्य तत्कृतेरयोगात्। तादृशोऽपि निमित्तभावे कर्मणामचेतनत्वेऽपि तन्निमित्तत्वमविप्रतिषिद्धम्, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात्। यथैव हि कुलालादिसतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको दृष्टान्तः तनुकरणभुवनादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोज[1]कत्वकल्पनयाव्यतिक्रम्यते तथा कर्मणामचेतनानामपि तन्निमित्तत्वं कल्पनया बुद्धिमानपि दृष्टान्तो व्यतिक्रम्यतां विशेषाभावात्।

§ २९. स्यान्मतम्—सशरीरस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नवत एव कुलालादेः [2]कारकप्रयोक्तृत्वं दृष्टम्, कुटादिकार्यं कर्तुमबुद्ध्यमानस्य तददर्शनात्, बुद्धिमतोऽपीच्छापाये तदनुपलब्धेः; तदिच्छावतोऽपि प्रयत्नाभावे [२]तदनुपलम्भात्; तद्वद्वितनुकरणस्यापि बुद्धिमतः स्रष्टुमिच्छतः प्रयत्नवतः शश्वदीश्वरस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तव्यतिक्रमः, सशरीरत्वेतरयोः कारकप्रयुक्तिं प्रत्यनङ्गत्वात्। न हि सर्वथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति, तद्विशेषविरोधादिति; तदयुक्तम्, बुद्ध्यादीनामपि [३]तस्या[3]संभवात्। ईश्वरो ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नत्रयवान्न भवति; अशरीरत्वात्; मुक्तात्मवदिति तदभावसिद्धेः। अशरीरत्वाविशेषेऽपि सादिमुक्तानामेव बुद्ध्यादिरहितत्वं न त्वनादिमुक्तस्येश्वरस्येति चेत्; न, अनादिमुक्तसिद्धेः। 'ईश्वरस्याशरीरत्वं सादि अशरीरत्वात् मुक्तात्माऽशरीरत्ववत्' इति तद्बाधकसद्भावात्। अत्राप्यशरीरत्वाविशेषेऽपि मुक्तात्माशरीरत्वमेव सादि न त्वीश्वराशरीरत्वमिति चेत्; न, अनुपपत्तिकत्वात्; जगत्कर्तृत्वसर्वज्ञत्वादीनामीश्वरविशेषणानां विवादगोचरत्वे न ततो वैलक्षण्याभिधानानुपपत्तेः। तथापि यदि तथेष्यते तर्हि कार्यत्वाविशेषेऽपि घट-पट-कट-कटक-शकट-मुकुटादीनां बुद्धिमद्धेतुकत्वं न तु मही-महीधर-महीरुहादीनामिति किं नेष्यते। [४]अकृतसमयस्यापि कृतबुद्ध्युत्पादकेभ्यो घटादिभ्यः [५]तदनुत्पादकभुवनादीनां वैलक्षण्यस्यापि संभवात्। एवमशरीरत्वे बुद्धीच्छाप्रयत्नवत्त्वासिद्धेः तदसिद्धौ सकलकारकप्रयोक्तृत्वानुपपत्तेः सूक्तमीश्वरस्तन्वादीनां न कर्तेति।

§ ३०. तथापि यदि वैय्यात्यादीश्वरः कर्तेत्यभिधीयते तदा प्राणिनां विचित्रघोरदुःखशतानीश्वरः करोति वा, न वा, यदि न करोति तदा तैः कार्यत्वादिहेतूनां व्यभिचारः। अथ करोतीति मतम्, तदसंभाव्यम्; इह हि कश्चिदसर्वज्ञो प्रणष्टरागद्वेषो मुनिरन्यो वा साधुः परपीडां न करोति किल, स एव महर्षीणामप्याराध्यः सर्वज्ञो वीतरागद्वेषमोहो भगवान् महेश्वरः प्राणिनामनिमित्तमसह्यविविधोग्रदुःखपरम्परामुत्पाद्य जगत्त्रयं परिपीडयतीति कथमिदं प्रेक्षावद्भिः संभाव्यते। तत्करणे वा तस्य अत्युग्रापूर्वराक्षसत्वमेव, न तु महद्भिः स्तुत्यं महेश्वरत्वमिति तस्य तत्करणमसंभाव्यम्।

§ ३१. ननु [न] प्राणिनामीश्वरो[4] दुःखमुत्पादयतीति चेत्; न; दुःखहेतूनामपि पापकर्मणामीश्वरकृतत्वे तस्यैव[६] दुःखहेतुत्वसिद्धेः, तत्पक्षोपक्षिप्तदोषानुषंगात्। तेषां[७] तदकृतत्वे तनुकरणादेरपि तत्कृतत्वं मा भूत्; विशेषाभावात्। कर्मभिरीश्वरसाधकहेतूनामनैकान्तिकत्वाच्च;

१. तनुकरणरहितस्य। २. कार्यकर्तृत्वाभावात्। ३. ईश्वरस्य। ४. अगृहीतसंकेतस्यापि। ५. कृतबुद्ध्यनुत्पादक। ६. ईश्वरस्यैव। ७. कर्मणाम्।

1. –प्रजक– क०, ख०। 2. कारकः प्रयो– क०, ख०। 3. तस्य संभवात् क०। 4. –नादीश्वरो क०, ख०।

कर्मणामबुद्धिमन्निमित्तत्वेऽपि कार्यत्वार्थक्रियाकारित्वस्थित्वा(त्या) प्रवर्तनानां संभवात्। यदि [1]कल्पयित्वापीश्वरमवश्यं कर्मानुमन्यते; तदा केवलं कर्मैव तनुकरणादिनिमित्तमिष्यताम्, किमनेनेश्वरेण प्रमाणबाधितेन, तथा च परेषां पारंपर्यपरिश्रमपरिहारः स्यात्।

§ ३२. ननु कथमचेतनानां कर्मणां विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणाद्युत्पादकत्वमिति चेत्; कथमुन्मत्तमदिरामदनकोद्रवादीनामुन्मादादिविचित्रकार्योत्पादकत्वम्। कथं वा अयस्कान्तविशेषाणां लोहाकर्षणभ्रमणादि-कार्यकारित्वमित्यभिधीयताम्। तथादृष्टत्वादिति चेत्; तत एव प्रकृतः स्वभावव्यालम्भो[१]ऽपि निवर्त्यताम्। तथा 'सुखदुःखलाभालाभादीनामदृष्टं कारणमस्ति, दृष्टकारणव्यभिचारान्यथानुपपत्तेः' इत्यनुमितत्वात्। न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसंगनिवृत्तिः स्यादिति शङ्कनीयम्, तदनुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वात्।

§ ३३. तथाहि—तनुकरणभुवनादेः कार्यत्वादिसाधनं किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं साधयेत्, अनेकबुद्धिमत्कारणं वा, प्रथमपक्षे प्रासादादिना अनेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना तदनैकान्तिकम्। द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनम्, नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्यतन्वादीनाम्, तेषां तददृष्टकृतत्वात्।

§ ३४. एतेन बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने सिद्धसाधनमुक्तम्; तदभिमतविशेषस्याधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यसिद्धेः[१]। सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाददोष इति चेत्, न; दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः। दृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे स्वेष्टविघातात्। अदृष्टविशेषाश्रयस्य सामान्यस्य साध्यत्वे साध्यशून्यत्वप्रसंगात्। निदर्शनाय दृष्टेतरविशेषाश्रयस्य सामान्यसाधनेऽपि स्वाभिमतविशेषसिद्धिः कुतः स्यात्।

§ ३५. अधिकरणसिद्धान्तन्यायादिति चेत्; कोऽयमधिकरणसिद्धान्तो[२] नाम, **यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः"** [न्यासू० १।१।३०] ततो दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य बुद्धिमन्निमित्तस्य जगत्सु प्रसिद्धौ प्रकरणाज्जगन्निर्माणसमर्थः समस्तकारकाणां प्रयोक्ता सर्वदाऽविलुप्तशक्तिर्विभुरशरी[2]रत्वादिविशेषाश्रय एव सिद्ध्यतीति चेत्, स्यादेवम्, यदि सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेन समस्तकारकाणां प्रयोक्त्रा सर्वज्ञत्वादिविशेषोऽपि तेनाविनाभाविदृष्टेतरविशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारणसामान्यं कुतश्चित्सिद्ध्येत्; न च सिद्ध्यति; अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव स्वोपभोग्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषेण तस्य व्याप्तत्वसिद्धेः समर्थनात्। तथा सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे साध्ये घटादिना अनैकान्तिकं साधनम्। साध्यविकलं च निदर्शनम्। सरागसर्वज्ञकर्तृकत्वे साध्ये अपसिद्धान्तः। सर्वथा कार्यत्वं च साधनं तन्वादावसिद्धम्, तस्य[३] कथंचित् कारणत्वात्। कथंचित् कार्यत्वं तु विरुद्धम्, सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात् साध्याद्विपरीतस्य कथंचिबुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात्। तथा पक्षोऽप्यनुमानबाधितः स्यात् 'नेश्वरस्तन्वादीनां कर्ता ज्ञानादिरहितत्वात्, मुक्तवत्,' इति प्रागुक्तानुमानस्य तद्बाधकस्य भावादिति, जगतो बुद्धिमद्धेतुकत्वं न सिद्ध्यति, साधकस्याभावाद् बाधकस्य संभवाद्। ततः सूक्तमिष्टविरुद्धं वैशेषिकमतमिति।

[इति वैशेषिकशासन-परीक्षा]

१. व्युत्क्रमेण आ समन्तात् लम्भः प्राप्तिः। २. यत्सिद्धौ अन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। ३. तन्वादेः।

1. –प इत्वा क०, ख०। 2. –र्विभूः शरीर क०, ख०।

[नैयायिकशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्षः]

§ १. वैशेषिकसमसिद्धान्ता नैयायिकास्त्वेवमामनन्ति—

"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।"

[न्यायसू० १।१।१]

§ २. किं च, भक्तियोग-क्रियायोग-ज्ञानयोगत्रयैर्यथासंख्यं सालोक्यं सारूप्यं सामीप्यं सायुज्यं मुक्तिर्भवति ।

§ ३. तत्र महेश्वरः स्वामी स्वयं भृत्य इति तच्चित्तो भूत्वा यावज्जीवं तस्य परिचर्याकरणं भक्तियोगः, तस्मात्सालोक्यमुक्तिर्भवति ।

§ ४. तपःस्वाध्यायानुष्ठानं क्रियायोगः । तत्रोन्मादकादिव्यपोहार्थमाध्यात्मिकादिदुःखसहिष्णुत्वं तपः, प्रशान्तमन्त्रस्येश्वरवाचिनोऽभ्यासः स्वाध्यायः, तदुभयमपि क्लेशकर्मक्षयाय समाधिलाभाय चानुष्ठेयम् । तस्मात्क्रियायोगात् सारूप्यं सामीप्यं वा मुक्तिर्भवति । विदितपदार्थस्येश्वरप्रणिधानं[1] ज्ञानयोगः ।

§ ५. परमेश्वरतत्त्वस्य प्रबन्धेनानुचिन्तनं पर्यालोचनमीश्वरप्रणिधानम् । तस्य योगस्य यम-नियम-आसन--प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः अष्टाङ्गानि । तत्र देशकालावस्थाभिरनियताः पुरुषस्य विशुद्धवृत्तिहेतवो यमाः । अहिंसाब्रह्मचर्यास्तेयादयः देशकालावस्थापेक्षिणः पुण्यहेतवः क्रियाविशेषा नियमाः देवार्चन-प्रदक्षिण-संध्योपासन-जपादयः । योगकर्मविरोधिक्लेशजपाद्यर्थश्च रणबन्धः आसनम् । पद्मकस्वस्तिकादेः कोष्ठस्य वायोर्गतिच्छेदः प्राणायामः रेचकपूरककुम्भकप्रकारः शनैःशनैरभ्यसनीयः । समाधिप्रत्यनीकेभ्यः समन्तात्[2] स्वान्तस्य व्यावर्तनं प्रत्याहारः । चित्तस्य देशसंबन्धो धारणा । तत्रैकतानता ध्यानम् । ध्यानोत्कर्षान्निर्वाताचलप्रदीपावस्थानमिवैकत्र चेतसावस्थानं समाधिः । एतानि योगान्तानि मुमुक्षुणा महेश्वरे परां भक्तिमाश्रित्याभियोगेन सेवितव्यानि । ततोऽचिरेण कालेन भवन्तमनौपम्यस्वभावं प्रत्यक्षं पश्यति; तं दृष्ट्वा निरतिशयं सायुज्यं निःश्रेयसं प्राप्नोति ।

[उत्तरपक्षः]

§ ६. तदेतत्तार्किकमतं दृष्टेष्टविरुद्धम् । प्रागनन्तरं प्रतिपादितप्रकारेणैव प्रत्यक्षानुमानविरोधयोरत्राप्युपपत्तेः, अतो नात्र पृथक् तद्विरोधसमर्थनमुपक्रम्यते ।

§ ७. किं च, तदभ्युपगतपदार्थेषु इन्द्रियबुद्धिमनसाम् अर्थोपलब्धिसाधकत्वेन[१] प्रमाणत्वात् प्रमेयेष्वन्तर्भावानुपपत्तेः, अन्यथैकानेकात्मकत्वसिद्धेः । संशयादीनां प्रमेयत्वे[२] च व्यवस्थानानुपपत्तेः । विपर्ययानध्यवसाययोः प्रमाणादिषोडशपदार्थेभ्योऽर्थान्तरभूतयोः प्रतीतेश्च न षोडशपदार्थव्यवस्था ।

१. तन्मतेनैव । २. प्रमाणाविषयत्वे ।

1, प्रणवानं क० । 2. संमतात् क० ।

§ ८. तथैवं नैयायिकवैशेषिकसिद्धान्तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वे सिद्धे चतुर्विधवर्णाश्रमवत् तदविधेयविविधाचारपुण्यपापपरलोकबन्धमोक्षतत्कारणतत्फलबद्धमुक्तादिस्वरूपप्रतिपादकोऽपि यौगागमो न प्रमाणम्, दृष्टेष्टविरुद्धागमाभिन्नस्य तस्यातीन्द्रियेषु तत्कारणेषु च प्रामाण्यसंभावनानुपपत्तेरिति न तेषां धर्मानुष्ठानं प्रतिष्ठामियर्ति । किं वा बहुभिरालापैः औलूक्यैः तार्किकैश्च लौकिकं वैदिकं वा यत्किंचिदुच्यते तत्सर्वं मृषैव तदभिमतसर्वतत्त्वानां संसर्गासंभवेन[१] शून्यत्वस्यापादितत्वादित्यलमतिप्रपञ्चेन, दृष्टेष्टविरुद्धत्वान्नैयायिकवैशेषिकमतयोरसत्यत्वसिद्धत्वात् ।

दृष्टेष्विष्टेषु दृष्टेष्टविरोधाद्यौगसंमतः ।
परोक्षेषु तदेकत्वादागमो न प्रमाणताम् ॥
संसर्गहानेः सर्वार्थहानेर्यौगवचोऽखिलम् ।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम् ॥
दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धत्वान्न सत्यं यौगशासनम् ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति[1] निश्चितम् ॥

[इति नैयायिकशासन-परीक्षा]

१. समवायादिसम्बन्धाभावेन ।

1. द्वाश्वेति क०, ख० ।

[मीमांसक-भाट्टप्राभाकरशासन-परीक्षा]

[पूर्वपक्षः]

§ १. अथ मीमांसकमतमपि दृष्टेष्टविरुद्धम् । मीमांसकेषु तावदेवं भाट्टा भणन्ति—'पृथिव्यप्तेजोवायुदिक्कालाकाशात्ममनःशब्दतमांसि' इत्येकादशैव पदार्थाः, तदाश्रितगुणकर्मसामान्यादीनां तत्स्वभावत्वेन तादात्म्यसंभवान्न पदार्थान्तरमित्येवं पदार्थयाथात्म्यज्ञानात् कर्मक्षयो भवतीति ।

§ २. प्राभाकरास्तु—

"द्रव्यं गुणः क्रियाजातिसंख्यासादृश्यशक्तयः ।
समवायः क्रमश्चेति नव स्युर्गुरुदर्शने ॥"

[ ]

तत्र द्रव्या[1] [णि पृथिव्यादयः,] गुणा रूपादयः क्रिया उत्क्षेपणादि । जातिः सत्ता द्रव्यत्वादि । संख्या एकत्वद्वित्वादिः । सादृश्यं गोप्रतियोगिकं गवयगतमन्यत्, गवयप्रतियोगिकं गोगतं सादृश्यमन्यत् । शक्तिः सामर्थ्यम्, सा अनुमेयैव[2] । गुणगुण्यादीनां संबन्धः समवायः । एकस्य निष्पादनानन्तरमन्यस्य निष्पादनं क्रमः, प्रथमाहुत्यादिपूर्णाहुतिपर्यन्तम् । इत्येवं नवैव पदार्थाः । एतेषां याथात्म्यज्ञानान्निःश्रेयससिद्धिरित्याचक्षते ।

§ ३. किं च, वेदमधीत्य तदर्थं ज्ञात्वा तदुक्तनित्यनैमित्तककाम्यनिषिद्धानुष्ठानक्रम निश्चित्य तत्र विहितानुष्ठाने यः प्रवर्तते तस्य स्वर्गापवर्गसिद्धिर्भवति । त्रिकालसंध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकं नित्यानुष्ठानम् । दर्शपौर्णमासग्रहणादिषु क्रियमाणनैमित्तकानुष्ठानम् । तद्द्वयमपि नियमेन कर्तव्यम् । कुतः,

"अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन[1] लिप्यते ।"

[ ] इति वचनात् ।

पुत्रकाम्येष्ट्यादिकमहिकं काम्यानुष्ठानम् । ज्योतिष्टोमादिकमामुत्रिकं काम्यानुष्ठानम् । '[2]श्येनाभिचरन् यजेत्,' इत्यादिकं निषिद्धानुष्ठानम् । तत्क्रमं निश्चित्य तेष्वनुष्ठानेषु विहितानुष्ठाने यः प्रवर्तते स स्वर्गापवर्गौ प्राप्नोति ।

§ ४. अपि च—

"न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः[3] ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥"[3]

[ ] इति वचनात् ।

मुमुक्षूणां प्रव्रज्यया भवितव्यमिति नियमो नास्ति ।

---

१. पापेन । २. श्येनयागेन । ३. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो''' इत्यादि । तुलना—रत्नकर० श्लो०

1. द्रव्यादि गुणरूपादयः क०, ख० । 2. सानुमयैव क०, ख० । 3. निष्ठातिथि क० ।

§ ५. तत्रापि—

"मोक्षार्थी न [1]प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया ॥"

[मी० श्लो० संबन्ध० श्लो० ११०] इति भाट्टाः ।

प्रत्यवायपरिहारकामेन नित्यनैमित्तकानुष्ठानयोः प्रवर्तनात् । तयोरपि काम्यानुष्ठानकुक्षौ निक्षेपात् तत्करणमपि मोक्षकांक्षिणाऽनवधीयते इति प्राभाकराः प्रत्यूचिरे ।

[उत्तरपक्षः]

§ ६. तदेतन्मीमांसकमतं तावद् दृष्टविरुद्धम्, मीमांसकाख्यैर्भाट्टैः प्राभाकरैश्च पृथिव्यादयोऽर्थाः सत्तादिसामान्यतोऽनुव्यज्यन्ते । तच्च सत्तादिसामान्यं सर्वथा नित्यं निरवयवमेकं व्यापकमिति तैरभिमतम्; तत्तु प्रत्यक्षविरुद्धमेव, सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्यानित्यस्यासर्वगतस्य रूपादिवदनेकव्यक्तात्मतयाऽनेकरूपस्यैव प्रत्यक्षतः प्रतीतेः । न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं प्रत्यक्षतः स्थूणादौ वंशादिवत् प्रतीयते; व्यक्तेरुत्पादविनाशेऽपि अनुत्पादमविनाशं वा यतस्तत्प्रत्यक्षं स्यात् । तदिदं परोदितस्वरूपं सामान्यं प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं न समर्थयति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छतीत्यमूल्यदानक्रयित्वात् सतामुपहासास्पदमेव स्यात् ।

§ ७. तथापि यदि याज्ञिका वैयात्यात् तथैवेति विवदन्ते, तर्हि तत्र ब्रूमः; एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्तमानस्य[1] अन्यत्र वृत्तिर्न स्यात् । तत्र हि वृत्तिः तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात् अंशवत्तया वा स्यात्, न तावद् गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः, निष्क्रियत्वोपगमात् । किं च पूर्वपिण्डपरित्यागेन [2]तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा, न तावत् परित्यागेन, प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्य अगोरूपताप्रसंगात्, नाप्यपरित्यागेन, अपरित्यक्तपिण्डस्यास्यानंशरूपादेरिव गमनासंभवात् । न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिर्दृष्टा । नापि पिण्डे [न] सहोत्पादात्, तस्यानित्यतानुषंगात् । नापि तद्देशे सत्त्वात्; पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र निराधारस्यास्याव्यवस्थानाभावात्, भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोधः । नाप्यंशवत्तया; निरंशत्वप्रतिज्ञानात् । ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषंगः ।

§ ८. परेषां प्रयोगः—ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागमन्तः ते तत्रासन्तो, यथा खरोत्तमाङ्गे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके वस्तुनीति । तदुक्तम्—

"न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसंततिः ॥"

[ ] इति

§ ९. नन्वेष दोषो भेदवादिनामेव न तु मीमांसकानाम्, तैः सामान्यव्यक्त्योस्तादात्म्याङ्गीकरणात् ।

---

१. सामान्यस्य इति शेषः । २. सामान्यम् ।

1. —र्थी प्रव- क० ख० । 2 मान् स्यात् स्यान्य- क०, ख० । 3. पिण्डे सहो, क०, ख० ।

"तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत् स्वभावादिति गम्यताम् ।"

[मी० श्लो० आकृति० श्लो० ४७]

इत्यभिधानादिति चेत्, तेषां व्यक्तिवत्तस्यासाधारणसाधारण[1]रूपत्वानुषंगात् । व्यक्त्युत्पादविनाशयोश्चास्यापि तद्योगित्वप्रसंगात् ।

§ १०. न सामान्यरूपता वा साधारणरूपत्वम्; उत्पादविनाशयोगित्वं चास्य नाभ्युपगम्यते, तर्हि विरुद्धधर्माध्यासतो[2] व्यक्तिभ्योऽस्य भेदः स्यात् । उक्तं च—

"तादात्म्यं चेन्मतं जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता ।
नाशोऽनाशश्च केनेष्टस्तद्वच्चानन्वयो न किम् ॥
व्यक्तिजन्मन्यजाता चेदागता[3] नाश्रयान्तरात् ।
प्रागासीन्न च तद्देशे सा तया संगता कथम् ॥
व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा गताव्यक्त्यन्तरं न च ।
तच्छून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम् ॥
व्यक्तेर्जात्यादियोगेऽपि यदि जातेः स नेष्यते ।
तादात्म्यं कथमिष्टं स्यादनुपप्लुतचेतसाम् ॥"

[हेतुबि० टी० पृ० ३२]

इत्येवमनेकदोषदुष्टत्वात् याज्ञिकानुज्ञातसामान्यं खरविषाणवदसदेव स्यात् ।

§ ११. यत्तु तत्सद्भावसाधनमुक्तं परैः —

"पिण्डभेदेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना ।
गवाभास्यैकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत् ॥"

[मी० श्लो० वन० श्लो० ४४]

"न शाबलेयाद् गोबुद्धिस्ततोऽन्यालम्बनापि वा ।
तदभावेऽपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत् ॥"

[मी० श्लो० वन० श्लो० ४]

इत्यादि; तत्सर्वं सिद्धसाधनम्; अनुवृत्तप्रत्ययस्य सदृशपरिणामलक्षणसामान्यालम्बनत्वसिद्धेः ।

§ १२. न हि वयं [4]बौद्धवत् सामान्यस्यापह्नवोतारः; केवलं [२]परपरिकल्पितसर्वथानित्यत्वा[१]द्विशेषणविशिष्टमेव सामान्यं न मृष्यामहे । सर्वथा नित्यस्यैकस्यानष्टस्य[5] सर्वगतस्य विचार्यमाणस्यासंभवात् ।

§ १३. 'नित्यं सदादि सामान्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, शब्दवत्' इति चेत्, न; हेतो विरुद्धत्वात् । कथंचिन्नित्यस्य इष्टविरुद्धस्य साधनात् । सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात् । तदेवेदमिति-पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिनैकत्र प्रत्ययस्योपपत्तेः, पौर्वापर्यरहितस्य[३] पूर्वापरप्रत्ययविषयत्वासंभवात् ।

१. जात्यादियोगः । २. नैयायिकादिपरिकल्पित । ३. कूटस्थनित्यस्य ।

1. –स्यासाधारणरूप– क० । 2. –द्धध्यासतो क०, ख० । 3. –ता गता ख० । 4. चाद्दवत् क० । 5. –स्यानंस्तस्य क० । स्यानंशस्य ख० ।

§ १४. धर्माविव[1] पूर्वापरभूतौ न धर्मिसामान्यमिति चेत्, कथं तदेवेदमित्यभेदप्रतीतिः, पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्तमानयोः तदित्यतीतपरामर्शिना स्मरणेन इदमिति वर्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं भेदात् ।

§ १५. सदादिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथंचिद्भेदाभेदप्रतिपत्तिरिति चेत्, सिद्धं तस्य कथंचिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात् । न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तम्, [१]अनित्यस्वात्मवत् सर्वथानित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया[2]विरोधाच्च । तदनित्यं सामान्यं विशेषादेशात् शब्दवत् । तत एवानेकं तद्वत् । सदित्यादिस्वप्रत्ययाविशेषादेकं सत्तादिसामान्यमिति चेत्, न; सर्वथास्वप्रत्ययाविशेषस्या[3]सिद्धत्वात् प्रतिपदादिव्यक्ति सदित्यादिप्रत्ययस्य [२]विशेषात् । तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय इति चेत्; तर्हि ता व्यक्तयः सामान्यात् सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपद्यन्ते, तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य, स चायुक्तः, [३]तन्मते संबन्धस्य[४] निरस्तत्वात्, तस्येति व्यपदेशानुपपत्तेः ।

§ १६. अथ कथंचिदभिन्नाः, तदा सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वम्, विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्यः कथंचिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयतोपपत्तेः विशेषस्वात्मवत् । ततो नैकमेव सत्तादिसामान्यम् । नाप्यनंशम्; कथंचित् सांशत्वप्रतीतेः; सांशेभ्यो विशेषेभ्योऽनर्थान्तरभूतस्य सांशत्वोपपत्तेः तत्स्वात्मवत् । तथा सर्वगतं तत् सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वात् । तत्राभिव्यक्तत्वात्तस्यानुपलम्भ इति चेत्; तत एव व्यक्तिस्वात्मनोऽपि तत्रानुपलम्भोऽस्तु । तत्र तस्य सद्भावादेकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत्, सामान्यस्यापि विशेषभावा[4]दसत्त्वादेवानुपलम्भोऽस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षतस्तथाननुभवात्, खरविषाणादिवत् । न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकम्, यथा स्थूणादिषु वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपदभिन्न[5]देशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य सिद्ध्येत्, स्वाधारान्तराले[6] अस्तित्वं साधयेदिति तदेवमनेकबाधकसद्भावात् भाट्टप्राभाकरैरिष्टं..............

[भद्रं भूयात्]

१. अनित्यस्वात्मवत् । २. भेदात् । ३. यौगमते । ४. समवायस्य ।

1. धर्मादेव क०, ख० । 2. –मर्थविरोधाच्च क०, ख० । 3. –षः स्यासिद्धस्यात् क०, ख० । 4. विशेषाभाव– क०, ख० । 5. युगपद् भिन्न ख० । 6. रन्तरालेऽपि क० ।

खण्डितुं मानिनां मानं मण्डितुं जिनधर्मिणाम् ।
विदुषां प्रीतये भूयाद् विद्यानन्दकृता कृतिः ॥

परिशिष्टानि

क्रम

१. सत्यशासन-परीक्षाकी मूल कारिकाओंकी अनुक्रमणिका ।

२. मूल ग्रन्थमें उद्धृत वाक्योंकी अनुक्रमणिका ।

३. प्रस्तावना तथा मूलगत विशिष्ट शब्द ।

परिशिष्ट १

सत्यशासन-परीक्षाकी मूल कारिकाओंकी अनुक्रमणिका

कारिका	पृष्ठ
आविर्भावच्युतौ सर्वच्युतेः	३३
दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धत्वान्न सत्यं शाक्यशासनम्	२९
दृष्टेष्टाभ्यां विरुद्धत्वान्न न सत्यं यौगशासनम्	४३
दृष्टेष्टेषु दृष्टेष्टविरोधात्सुगतोदितः	२९
दृष्टेष्टेषु दृष्टेष्टविरोधात्सांख्यसम्मतः	३३
दृष्टेष्विष्टेषु दृष्टेष्टविरोधाद्यौगसम्मतः	४३
न चार्वाकमतं सत्यम्	१९
न सांख्यशासनं सत्यम्	३३
प्रमाणाभावतः सर्वम्	१४
ब्रह्माद्वैतमतं सत्यम्	१०
ब्रह्मविद्याप्रमापायात्	१०
विकल्पाभावतः सर्वहानेः	२९
विद्यानन्दाधिपः स्वामी	१
स्वपराविदिताध्यक्षचार्वाकाणाम्	१९
संसर्गहानेः सर्वार्थहानेर्यौगवचः	४३
ज्ञानाद्वैतं न सत्यं स्यात्	१४

परिशिष्ट २

उद्धृत वाक्य-सूची

		पृष्ठ-संख्या
[अ]		
अकुर्वन्विहितं कर्म		४४
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः		१५
अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव	[प्रश० भा०, पृ० ६९७]	३६
अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि	[आप्तमी० श्लो० २७]	७
अद्वैतं न विनाद्वैतात्	[आप्तमी० श्लो० २७]	७
अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः	[प्रश० भा०, पृ० १६]	३८
अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेत्	[युक्त्यनु० श्लो० १८]	१३
अनिर्वाच्याऽविद्या	[भामती, श्लो० १]	२
अभिप्रायनिवेदनादविसंवादनम्	[प्रमाण० वा० ११३]	२२
अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वम्	[युक्त्यनु० श्लो० ७]	३९
अयुतसिद्धानामाधार्याधेयभूतानां	[प्रश० भा०, पृ० १४]	३४
अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावात्	[युक्त्यनु० श्लो० २९]	२७
अविद्याया अविद्यात्वे	[संबन्धवा० श्लो० १८१]	८
अविद्यावानविद्यां तम्	[संबन्धवा० श्लो० १७९]	८
अशरीरं वा वसन्तं न	[छान्दो० ८।१२।१]	३९
असदकरणादुपादानग्रहणात्	[सांख्यका० ९]	३२
अस्ति ह्यालोचनाज्ञानम्	[मी० श्लो०, प्रत्यक्ष श्लो० १२०]	३
[आ]		
आत्मनो वै शरीराणि		३५
आत्मा वारे द्रष्टव्यः	[बृहदा० २।४।५]	२
आश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः	[प्रश० भा०, पृ० १६]	३४
आहुर्विधातृप्रत्यक्षम्		४
[इ]		
इन्द्रजालादिषु भ्रान्तम्	[न्यायविनि० १।५२]	३
[उ]		
उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चन-	[प्रश० भा०, पृ० ११]	३४
उपादानकारणसदृशं हि		८
[ऊ]		
ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्	[भगवद्गीता १५।१]	५
[ए]		
एक एव तु भूतात्मा	[अमृतबि० उप०, प० १२, पृ० १५]	२
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म	[छान्दो० ६।२।१]	१
एकरूपतया तु यः		२७

एकसंविदि विभाति भेदधीः		११
एकस्यानेकवृत्तिर्न		५
[क]		
कर्मद्वैतं फलद्वैतम्	[आप्तमी० श्लो० २५]	७
कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः	[आप्तमी० श्लो० ६८]	३८
कुर्वन्नात्मस्वरूपज्ञः		३५
[ग]		
गुणाः रूपरसगन्धस्पर्श-	[प्रश० भा०, पृ० १०]	३४
गुणादीनां पञ्चानामपि	[प्रश० भा०, पृ० १६]	३४
[ज]		
जन्माद्यस्य यतः	[ब्रह्मसू० १।१।२]	२
जातिक्रियागुणद्रव्यसंज्ञाः		२०
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः	[सौन्दर० १६।२९]	२१
[त]		
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः	[महाभारत]	१४
तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजो-	[प्रश० भा०, पृ० ८]	३४
तदर्हजस्तनेहातो		१८
तस्य हि हेतुर्वाच्यो		१६
तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत्	[मी० श्लो०, आकृति० श्लो० ४७]	४६
तादात्म्यं चेन्मतं जातिः	[हेतुबि० पृ० ३२]	४६
त्वत्पक्षे बहुकल्प्यं स्यात्	[संबन्धवा०, श्लो० १८२]	९
[द]		
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः	[सौन्दर० १६।१८]	२१
दृष्टे विशिष्टे जननादिहेतौ	[युक्त्यनु० श्लो० ३६]	१८
दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-	[न्यायसू० १।१।२]	३४
द्रव्यगुणकर्मसामान्य-	[प्रश० भा०, पृ० ६]	३४
द्रव्यादीनां पञ्चानामपि	[प्रश० भा०, पृ० १६]	३४
द्रव्यं गुणः क्रियाजाति-		४४
[न]		
न याति न च तत्रासीत्		४५
न शाबलेयाद्गोबुद्धिः	[मी० श्लो०, वन० श्लो० ४]	४६
नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम्		२६
नावनिर्न सलिलं न पावको		११
नाविद्यास्येत्यविद्यायाम्	[संबन्धवा०, श्लो० १७६]	८
नाभुक्तं क्षीयते कर्म		३५
नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः		३४
निर्विशेषं न सामान्यम्	[मी० श्लो०, आकृति०, श्लो० १०]	४
न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठो		४५

[प]

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो ३१

पयोधरभरालसा स्मरविघूर्णिताद्रेक्षणा १६

पिण्डभेदेषु गोबुद्धिः [मी० श्लो०, वन०, श्लो० ४४] ४६

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः [सांख्यका० २२] ३०

प्रतिषेधगौणकल्पनशुद्धपदानेकसंमतिजिनोक्तैः १७

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् [न्यायवि० १।२] २१

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र [युक्त्यनु० श्लो० २२] २३

प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते- ३६

प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम् २०

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्त- [न्यायसू० १।१।१] ४२

[ब]

बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते ३३

ब्रह्मण्यविदिते बाधात् [संबन्धवा० श्लो० १७८] ८

ब्रह्मविद्यावदिष्टं चेत् [संबन्धवा० श्लो० १७५] ८

[भ]

भुञ्जीत विषयान् कैश्चित् ३५

[म]

मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः [युक्त्यनु० श्लो० ३५] १८

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः [सांख्यका० ३] ३०

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत [मी० श्लोक०, संबन्ध०, श्लो० ११०] ४५

[य]

यतोऽनुभवतोऽविद्या [सम्बन्धवा० श्लो० १७७] ८

यत्सिद्धान्वयप्रकरणसिद्धिः [न्यायसू० १।१।३०] ४१

यथा यत्राविसंवादः [सिद्धिवि० श्लो० १।१९] ९

यथैकं भिन्नदेशार्थान् [लघी० श्लो० ३७] २६

यदि सत्सर्वथा कार्यम् [आप्तमी० श्लो० ३९] ३२

यद्यसत्सर्वथा कार्यम् [आप्तमी० श्लो० ४२] ३२

यस्मिन् रज्जुभुजङ्गवत्त्रिभुवनम् २

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् १५

यावज्जीवमहं मौनी ८

युक्त्या यन्न घटामुपैमि ११

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ३९

[ल]

लुक्खस्स लुक्खेन दुवाहिएण २५

[व]

वस्तुनोऽन्यत्र मानानाम् [संबन्धवा० श्लो० १८०] ८

विषदर्शनवत्सर्वमज्ञस्य [सिद्धिवि० श्लो० १।२४] २३

व्यक्तेर्जात्यादियोगेऽपि [हेतुबि० टी०, पृ० ३२] ४६

व्यक्तिजन्मन्यजाता चेदागता [हेतुबि० टी०, पृ० ३२] ४६

व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा [हेतुबि० टी०, पृ० ३२] ४६

[श]

शुक्तौ वा रजताकारो [प्र० वा० १।४५] २६

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो २

[ष]

षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्य- [प्रशस्त-भा०, पृ० १६] ३४

[स]

संसर्गः सुखदुःखे च तथार्थेन्द्रियबुद्धयः ३५

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टम् [सांख्यका० १३] ३०

सर्वथैकरूपत्वात् कूटस्थस्य

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म [मैत्र्यु० ४।६] ५

सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् [प्रमाणवार्तिकालं०, पृ० ३५९] १३

सामान्यं द्विविधम् [प्रश० भा०, पृ० ११] ३४

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति [तत्त्वसं०, श्लो० ३१४] १५

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं [श्रृङ्गार० श्लो० ७९] १५

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावात् [युक्त्यनु० श्लो० ३७] १८

स्वरूपस्य स्वतो गतिः [प्र० वा० १।५] २३

स्वाभिधानविशेषापेक्षया

[ह]

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् [आप्तमी० श्लो० २६] ५

[क्ष]

क्षणादूर्ध्वं न तिष्ठन्ति २०

[ज्ञ]

ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यम् ३७

परिशिष्ट ३

प्रस्तावना तथा मूलग्रन्थगत विशिष्ट शब्द*

प्रस्तावनागत विशिष्ट शब्द

[अ]

अकलंक १६।३५, १७।१२, १९।२८, ३३, २०।१,
३, ११, १५, १७, २२, २६, २८, २१।९,
२८।३१, २९।२, ४।७ ११, १२, १४, १६,
२१, २३, २९, ३०।३७, ३२।१६, १९,

अक्षपाद २८।२९

अर्चट २७।१७

अध्यात्म परीक्षा ३।३३

अमृतबिन्दु उपनिषद् २३।८, ९

अश्वघोष २५।१६

अष्टशती १७।१२, १३, ३०।१७

अष्टसती ३२।१७, १९,२२,

अष्टसहस्री ३२।१५, १७, १८, १९, २२, २६,
२८, ३०,

[आ]

आप्तमीमांसा १७।११, १२, १३, १४, १५, २१,
२२, १८।८, १६, २२, ३२।१५, १७, २२,

आरा २।१०

आलम्बनपरीक्षा ३।२६

[उ]

उमास्वाति १६।३३, १७।१, २८।२६ २९।१, ६,
३२।३

उद्योतकर २४।३, ३०।६, ३२

[क]

कणाद २८।२९, ३०।११

कुन्दकुन्द २९।६

कुन्थुसागर ३२।१२

कुमारिल ३२।३, ८,

कुम्मडवाड ३१।१३

कुमारसेन ३१।१

कुमारिल २६।१०, २८।३०, ३२, २९।३, १७,
३०।८, ९,

[ग]

गृद्धपिच्छाचार्य २८।२६

[च]

चन्द्रनाथ ३१।११

[छ]

छान्दोग्योपनिषद् २२।१७, १८

[ज]

जैमिनि २८।२९

[त]

तत्त्वसंग्रह २८।३, ४, ५,

तत्त्वार्थवृत्ति १६।३६

तत्त्वार्थवार्तिक १६।३५

तत्त्वार्थसूत्र १६।३२, ३३, ३५, ३६, २८।२६,
३२।३

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ५।१८ ३०।५ ३२।३, ४, ७,

त्रिकालपरीक्षा ३।२६

[द]

देवागमालङ्कार ३२।१५

देवागमस्तोत्र ३२।१५

दरबारीलाल कोठिया ३०।१

दिग्नाग २८।२७

[ध]

धर्मकीर्ति ५।३२ १९।२८, २६।३४, २७।२९, ३०,
२८।२८, ३०।३२, २९।३, १७, ३०।१५

धर्मकीर्ति ३२।४, ८,

धर्मोत्तर ३०।१६

* प्रथम अंक पृष्ठ तथा दूसरा अंक पंक्तिका बोधक है।

[न]

न्यायकुमुदचन्द्र २०।१३

न्यायवार्तिक २४।३१

न्यायवार्तिक ३०।५

न्यायबिन्दु २७।९, १०, ११,
२४।३१, ३०।४

न्यायविनिश्चय १९।२७, २८, २०।१

न्यायविनिश्चयविवरण १९।३०, ३०।२५

न्यायसूत्र २४।२९, ३०, ३३, ३०।४

नाथारङ्ग गान्धी ३२।२८

नीतिशतक २५।३३

[प]

प्रमाण-परीक्षा ३।२७, ३०

पत्र-परीक्षा ३।३०

पार्श्वनाथचरित ३०।२५

पूज्यपाद १६।३५

प्रज्ञाकरगुप्त २७।३०, ३१

प्रभाचन्द्र २०।१३

प्रभाकर ३०।८, ९

प्रमाणवार्तिक १९।२८, २६।३३, ३४, ३५, २७।३,
७, २८।३०, ३२।४

प्रमाणवार्तिकालंकार २७।२८, २९

प्रशस्तपाद २५।२७, २८।२९

प्रशस्तपादभाष्य २५।२६, २७।२८, ३०, ३०।३०

प्रभाकरशासन ५।९, १०

[ब]

बादरायण २३।३२, ३३

ब्रह्मसूत्र २३।२९, ३०, ३१

बृहस्पति १०।९

ब्रह्मसिद्धि २८।१०, ११

[भ]

भगवद्गीता २३।२३, २४

भर्तृहरि २२।९

[म]

मण्डनमिश्र २८।११, ३०।१७, २०

महेन्द्रकुमार १९।३०, २०।२३, २१।६, ३०।३६

महाभारत २३।१४, १५, २४

माणिकचन्द्र ३२।१२

मीमांसा-श्लोकवार्तिक २६।९, १०, १३, १६,
२८।३१, ३२।३

मूडबिद्री १।२१, ३१

मैत्र्युपनिषद् २२।२४, २५

[य]

यशस्तिलक २१।११, १२, १८, २७, ३४, २२।१०

यशोधर २१।१२

यशोविजय ३२।३१

युक्त्यनुशासन १८।२६, २७, २९, ३०, १९।१, ५,
१३, २२

युक्त्यनुशासनालङ्कार १८।२९, ३२।३२, ३३

[र]

राचमल्ल ३१।१६

रामचन्द्र नाथारङ्ग ३२।११

[ल]

लघीयस्त्रय २०।१०, ११, १३, १५

लघुसमन्तभद्र ३२।३०

[व]

वाग्देवसूरि ३०।२५

वात्स्यायन २४।३१, २८।२९, ३०।४

वाचस्पति ३०।३२, ३३

वादिदेव ३०।२६

विजयादित्य ३१।१६

वीरनाथ ३१।२१

व्योमवती २५।२८

व्योमशिवाचार्य २५।२८, ३०।१२, १३

बृहदारण्यक २३।१, २

वैराग्यशतक २५।३३

[श]

श्रृङ्गारशतक २२।९, २५।३२, ३३, २६।१

श्रवणबेलगोला ३१।१०

श्रीपुरुष ३१।९, १४

श्रुतसागर सूरि १६।३५

श्लोकवार्तिक ३०।१७

शिवमार ३१।८, ९, १३, १६, १७

शंकराचार्य ३०।१९

[स]

स्वोपज्ञ भाष्य १०।३५
सत्यशासन-परीक्षा ४।४, १९, २५, ५।१५, १८, २२, ३४, ३५
सम्बन्ध-परीक्षा ३।२७
समन्तभद्र १७।१२, १८।२७, २८।२७, २९।१, ६, ३२।१५, ३२।२०, ३२
सर्वार्थसिद्धि १६।३५
सम्बन्धवार्तिक २८।१३, १४
सांख्यकारिका २४।३, ४, ६
सिद्धिविनिश्चय २०।२१, २२, २३, २५, २६, २१।१
सिद्धसेन २८।२७, २६।२, ६
सुरेश्वर मिश्र २८।१४
सूरेश्वर ३०।१९, २०, २२
सोमदेव सूरि २१।१२, १५, १६, २२।१३, १४
सौन्दरनन्द २५।१५, १६, १८

[ह]

हेतुबिन्दु टीका २७।१६, १७

मूलग्रन्थगत विशिष्ट शब्द

[अ]

अकलंक देव ३।१९, ९।११, २६।६
अग्निहोत्र १५।२५
अतिप्रसंग ५।१०, २३।१९, ३७।१५
अतिव्याप्ति १।१७
अद्वय ५।२१
अद्वैत ७।२, ३, ७, ९, ११, १२, १४, २७, १०।४, १२।१
अद्वैतसिद्धि ५।३, ६, १८, ६।२, ३
अधिकरणसिद्धान्त न्याय ४१।१८, १९
अनल १६।१५
अन्तर्व्यायाम २५।५, ७
अनन्यवेद्यत्व १२।५, ६
अनिर्वाच्य ८।९, १३
अनुमान १।१६, ४।२६, ६।५, १२।६, ८, १२, १५, १३।१२, १५, १८।२६, १९।१०, २३।८, ३८।२०, ३९।१९, २०, ४१।९
अनेकान्त १।१२, १९, ११।१०, २५।२०, ३७।१४
अनेकान्तशासन १।१०
अनेक सम्मति १७।१६
अपह्नव १४।१४
अभ्युपगम २१।११, ३१।१०, ३२।२६, ३७।२६, ३८।१७
अभ्रान्त ७।२, ५, ६, २१।२३, २४, २७।९
अयस्कान्त ४१।५
अर्हत ३७।२०
अव्यक्त ३१।१
अव्याप्ति १।१७
अवनि ११।२०
अवयव ४२।४
अवाच्य २७।१०, ११, १२, १३, १५, १८
अविद्या २।१०, ११, २२, ४।२०, ८।३, ४, ६, ७, १३, १४, १८, २२, २४, २५, २७, ९।१, ५, ७, ८, ९, ११, १३, १४, १५, १७, १८, १९, २०, २३, २४, २५, २०।१६, २१।१, २, ९
असंभव १।१७
अश्वत्थ ५।२३
अहेतुवाद १९।३

[आ]

आगम ४।१४, ५।१९, २१, २६, ६।२, ५, १५।८, १८।२६, २३।८, २८।१४, ३३।१४, २१, ३९।२७, ४३।३, ८
आजीवस्थिति २१।५, ७
आप्त १५।१५
आप्तप्रणीत १७।२९
आम्नाय ६।३
आर्हत २७।८

[ई]

ईश्वरप्रणिधान ४२।१५

[उ]

उपादान १६।११,१२,१४,२०।११
उपादेय १६।११,१२,१४,२०।११,२९।१
उपाय २९।१

[ए]

एकान्त १।१२,२०,६।३,७।९

[औ]

औलूक्य ३५।२४,४३।५

[क]

कपिल १५।५,३१।७,८,१२
कर्म ३४।५
कापालिक १६।२
कापिल ३३।३
क्रिया २२।२१,४४।७
कूटस्थ २७।२७
कुम्भकार ३।१७

[ख]

खरविषाण ८।२,४६।११,४७।१९

[ग]

गगन ११।२०
गन्ध २०।३
गौणकल्पन १७।१६
गुण २२।२१,३४।५,४४।७

[च]

चन्द्रकान्त १६।९,१४,१५
चन्द्रमरीचिजाल ७।२५
चार्वाक १६।११,१७।१२,१९।१४,१६,१८
चार्वाक-शासन १।५,१५।१,३
चित्राद्वैत-शासन १।९,१४।१२,१३,२१

[छ]

छल ४२।५

[ज]

जल्प ४२।४
जल १६।१५
जलपुद्गल विचार ७।२६
जाति २२।२१,२२,२३,४२।५,४४।७

[ड]

डिण्डिम १६।८

[त]

तत्त्वोपप्लव ७।१८,८।६
तत्त्वोपप्लव-शासन१।१०
तत्त्वज्ञान ४२।५
तर्क ४२।४
ताथागत २४।२३,२७।२०
तार्किक ४२।२६,४३।५

[द]

द्रव्य २२।२१,३४।५,८,४४।७,९
दृष्टान्त ६।१७,४२।४
दृष्टादृष्टार्थ प्रपञ्च ९।२
द्वैताद्वैत १।११,१३
द्वैतप्रपञ्च ६।२
द्वैतसिद्धि ५।२८,६।२३,७।११

[न]

नर्तकी १६।३,७
निर्णय ४२।४
निर्बाधलक्षण १७।१७
निग्रह ४२।५
निर्विकल्पक २०।५,९,२८।१८
निरास्रव २९।९
निरीश्वर सांख्य ३०।२४,३२।१६
निरीश्वरशासन १।१०
निःश्रेयस ४२।५,४२।२४,४४।१३
नैयायिक ४२।३,४३।१,६,१३
नैयायिक-शासन १।१०,४२।१

[प]

प्रत्यवाय ४४।१८,४५।३,'१
प्रत्यक्ष १।१६
प्रतिपाद्य १४।७
प्रतिपादक १४।७
प्रतिभास ५।१२,१३,१४,१६,१७,६।१७,१८,११।५, १३।५
प्रतिषेध १७।१६
प्रत्यभिज्ञान १८।७
प्रमा १५।५
प्रमाण ४२।४
प्रमेय ४२।४
प्रपञ्चाध्यवसाय २।९
प्रयोजन ४२।४
प्रशस्तपाद ३६।२८
पञ्चशिखी १६।२

पन्था १५।१३
परमाणु २५।१,२,३
परमार्थ २७।४,९
परिभाषा २२।२१
पवन १८।३
प्राभाकर ४४।६,४५।६,८,४७।२१
पाखण्डी १६।८
पावक ११।२०
पाशुपत ३४।७
पुरुषाद्वैत १०।२
पुरुषाद्वैतशासन १।९, ५।१६, ४, ६, १०

[ब]
ब्रह्माद्वैत ९।२५, २४।१
ब्रह्मसिद्धि ४।१५,२७, ७।२४, १२।८
बादरायण २।७
बार्हस्पत्य १६।२६
बृहस्पति १५।१५, २६, १८।१५, २५, २८
बौद्ध २८।१४, १५, २९।५, ४६।२६
बौद्धागम २८।१३
बौद्धशासन १।९, २०।२१

[भ]
भाट्ट ४४।३, ४५।४, ४७।२१
भाट्टशासन १।१०, ४४।१
भावाभाव १।११,१३
भ्रान्तत्व २१।२३, ३६।२

[म]
मरुत ११।२०
मीमांसक ४४।१, ३, ४५।८, ३०, ४७।१०
मुक्ताफल १६।१५

[य]
युक्त्यनुशासन २७।१४
यौग २९।१९, ४३।७,९, ४७।१०
यौगागम ४३।२
यौगशासन ४३।११

[र]
रस २०।३
रूप २०।३

[ल]
लोकायतिक १७।१

[व]
व्यवच्छेद्य ६।२
व्यवच्छेदक ६।२
वाद ४२।३
वायु १५।१६
विजातीय २०।४,१३
वितण्डा ४२।३
विन्ध्य ५।१६
विद्या ९।८, ९, १०, १५, १७
विशेष ३४।६
विज्ञानस्कन्ध २०।५
वेदनास्कन्ध २०।४
वैशेषिक ३४।३,३९।११,१७,४१।३०,४२।३,४३।१,६
वैशेषिकशासन १।१०, ३४।१, ४१।२१

[श]
शब्दाद्वैत १०।१, २
शब्दाद्वैतशासन १।९
शाक्यशासन २७।१९, २९।७
शुद्धपद १७।१६
शैव ३४।७
शौद्धोदनिशासन २८।१०

[स]
स्पर्श २०।३
स्याद्वाद १४।२०, १९।१२, १९, २३।१०, २४।१४, १९, २५।२८,३०, ३१, ३६।५, २७।३, २९।८, ३३।२५,४३।१२
सांख्य ३०।३, ३२।२९, ३३।१२, १४, ३३।२०, २२
सांख्यशासन १।१०, ३०।१, ३, ३३।२, १८, २४
सजातीय २०।४
सत्यशासन १।३, ५, १५
सम्यक्त्व २५।५, ६
समन्तभद्र ७।७, २३।११, ३९।११
समवाय ३४।६, ३६।७ ८, ९, १०, १२, १४, १६, १७, १८, २६, ३७।१, ३, ७, ९, १८, २०, २५, ३८।१, ६, ७, ८, ९,१०, १२, १३, १४, १५, २०, २३, २४, ३९।८, ९, १३, ४४।८

समाधि २१।८
सविकल्पक २०।४, ९
सलिल ११।२०
सह्य ५।१६
साधर्म्य ३४।६
सामान्य ३४।५
सामीप्य ४२।८, १३
सायुज्य ४२।९, २४
सारूप्य ४२।८, १३
सालोक्य ४२।८, १०
सिद्धान्त ४२।४
सुगत १५।४, ५, २९।३
सूर्यकान्त १६।१५
सेश्वरसांख्य ३०।२५, ३२।१६
सेश्वरशासन १।९
सौगत २१।१८, २३।१०, २८।२७, २९।१
संस्कारस्कन्ध २०।१०
संशय ४२।४

[ह]
हेत्वाभास ४२।५
हेतु ६।१७
हेतुवाद १९।३
हेय २९।१

सहायक ग्रन्थ सूची

आप्तमीमांसा	वीरसेवामन्दिर, सरसावा
छान्दोग्योपनिषद्	निर्णयसागर, बम्बई
तत्त्वसंग्रह	ओरियण्टल सीरीज बड़ौदा
न्यायबिन्दु	का० जायसवाल सीरीज, पटना
न्यायविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
न्यायसूत्र	चौखम्बा सीरीज, काशी
प्रमाणवार्तिक	बिहार उड़ीसा रिसर्च सो०, पटना
प्रमाणवार्तिकलंकार	का० जायसवाल इंस्टीट्यूट, पटना
प्रशस्तपादभाष्य	चौखम्बा सीरीज, काशी
ब्रह्मसूत्र	,, ,, ,,
भगवद्गीता	आनन्दाश्रम, पूना
मीमांसाश्लोकवार्तिक	चौखम्बा सीरीज, काशी
मैत्रायण्युपनिषद्	निर्णय सागर, बम्बई
यशस्तिलक उत्तरार्ध	,, ,, ,,
युक्त्यनुशासन	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
लघीयस्त्रय	सिन्धी-जैन सीरीज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
बृहदारण्यक	निर्णय सागर, बम्बई
श्रृङ्गारशतक	निर्णयसागर, बम्बई,
सम्बन्धवार्तिक	
सांख्यकारिका	चौखम्बा सीरीज, काशी
सिद्धिविनिश्चय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सौन्दरनन्द महाकाव्य	रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, कलकत्ता
हेतुबिन्दुटीका	ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors :

Dr. H. L. Jain, Jabalpur : Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc. and published by the Jñānapīṭha.

Mahābandha or the **Mahādhavalā :**

This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindī Translation. Vol. I is edited by Pt. S. C. Diwakar and Vols. 2 to 7 by Pt. Phoolachandra. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha Nos. 1, 4 to 9. Super Royal Vol. I : pp. 20 + 80 + 350 ; Vol. II : pp. 4+40+440 ; Vol. III : pp. 10+496 ; Vol. IV : pp. 16+428 ; Vol. V : pp. 4+460 ; Vol. VI : pp. 22+370 ; Vol. VII : pp. 8+320. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958. Price Rs. 11/- for each vol.

Karalakkhaṇa :

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof. P. K. Modi. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 2. Third edition, Crown pp. 48 Bhāratīya Jnānapīṭha Kashi, 1964. Price 75 nP.

Madanaparājaya :

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Saṁvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Edited critically by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindī Introduction, Translation etc., Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 1. Second edition. Super Royal pp. 14 + 58 + 144. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūcī :

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina Bhaṇḍāras of Moodbidri, Karkal, Aliyoor etc. Edited with a Hindī Introduction etc. by Pt. K. BHUJABALI SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 2. Super Royal pp. 32 + 324. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1948. Price Rs. 13/-.

Tattvārtha-vṛtti :

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutasāgara (c. 16th century Vikrama Saṁvat) on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and UDAYACHANDRA JAIN. Prof. MAHENDRAKUMAR has added a learned Hindī Introduction on the exposition of the important topics of Jainism. The edition contains a Hindī Translation and important Appendices of referential value. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 4. Super Royal pp. 108 + 548. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949, Price Rs. 16/-.

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949. Price Rs. 2/-.

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D.) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (c. 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546 ; Vol. II : pp. 66+468. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949 and 1954, Price Rs. 15/- each.

Kevalajñāna-praśna-cūḍāmaṇi :

A treatise on astrology etc. Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 7. Super Royal pp. 16+128. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 4/-.

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanaṁjaya (c. 8th century A. D.) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarakīrti (c. 15th century A.D). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16 + 140. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 3.50 nP.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākrit Text, Sanskrit Chāyā. Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No. 1. Super Royal pp. 10 + 162 + 244. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 8/-.

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Pāli Granthamālā No. 1, Vol. 1. Super Royal pp. 16+384. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 9/-.

Kural or Thirukkuraḷ :

An ancient Tamil Poem of Thevar. It preaches the principles of Truth and Non-violence. The Tamil Text and the commentary of Kavirājapaṇḍita. Edited by Prof. A. CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English. Bhāratīya Jñānapīṭha Tamil Series No. 1. Demy pp. 8+36 + 440. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 5/-.

Mahāpurāṇa :
It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopædic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D.) is an outstanding scholar, poet and teacher; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindī Translation, Introduction, Verse Index etc. by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal Vol. I: Second edition, pp. 8 + 68+746 Varanasi 1963; Vol. II: pp. 8 + 556; Vol. III: pp. 8+16+640; Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951 to 1954. Price Rs. 10/- each.

Vasunandi Śrāvakācāra :
A Prākrit Text of Vasunandi (c. Saṁvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindī Translation by Pt. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 3. Super Royal pp. 230. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1952. Price Rs. 5/-.

Tattvārthavārttikam or **Rājavārttikam :**
This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I: pp. 16 + 430; Vol. II: pp. 18+436. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1953 and 1957. Price Rs. 12/- for each Vol.

Jinasahasranāma :
It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara (V. S. 13th century). In this edition brought out by Pt. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādhara, Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied by Hindī Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here. There is a Hindī Introduction giving information about Āśādhara etc. There are some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 288. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954. Price Rs. 4/-.

Purāṇasāra-Saṁgraha :
This is a Purāṇa in Sanskrit by Dāmanandi giving in a nutshell the lives of Tīrthaṁkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by G.C. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 15 and 16. Crown Part I: pp. 20+198; Part II: pp. 16+206. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954, 1955. Price Rs. 2/- each.

Sarvārtha-Siddhi :
The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Gṛdhrapiccha. It is edited here by Pt. PHOOLACHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp. 116 + 506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1955. Price Rs. 12/-.

Jainendra Mahāvṛtti :
This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts. S. N. TRIPATHI and M. CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V. S. AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀNSAKA and some useful Indices at the end. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 17. Super Royal pp. 56+506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 15/-.

Vratatithi Nirṇaya :
The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80 + 200. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 3/-.

Pauma-cariū :
An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma. The Apabhraṁśa text up to 56th Sandhi with Hindi Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 3 Volumes. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha Nos. 1, 2 & 3. Crown size, Vol. I: pp. 28+333; Vol. II: pp. 12+377; Vol. III: pp. 6 + 253. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1957, 1958. Price Rs. 3/- for each Vol.

Jīvaṁdhara-Campū :

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by Prof. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jīvaṁdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4+24 +20+344. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1958. Price Rs. 8/-.

Padma-purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by Pt. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44+548 ; Vol. II : pp. 16+460 ; Vol. III : pp. 16+472. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashī, 1958-59. Price Rs. 10/- each.

Siddhi-viniścaya :

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned Introductions both in English and in Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16+174+370 ; Vol. II : pp. 8+808. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 18/- and Rs. 12/-.

Bhadrabāhu-Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents etc. Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72+416. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 8/-.

Pañcasaṁgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gommaṭasāra etc. The Text is edited with a Sanskrit commentary, Prākrit Vṛtti by Pt. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 10. Super Royal pp. 64+804. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1960. Price Rs. 15/-.

Mayaṇa-parājaya-cariu :

This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by Prof. Dr. HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 5. Super Royal pp. 88+90. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 8/-.

Harivaṁśa Purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp. 12+16+812+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 16/-.

Karmaprakṛti :

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommaṭasāra. Edited by Pt. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Ṭīkā of Paṇḍita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeṣārtha. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 32+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 6/-.

Upāsakādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 28. Super Royal pp. 116 + 539, Bhāratīya Jñānapītha, Kashi, 1964. Price Rs. 12/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. Ch. CHHABRA, Jt. Director General of Archæology in India and S. SANKARANARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānandi, critically edited for the first time by GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr. NATHMAL TATIA. Jñānapītha Mūrtidevī Jain Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62. Bhāratīya Jñānapītha, Kashi, 1964. Price Rs 5/-.

Karakaṇḍa-cariu

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as 'Pratyeka Buddha' in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindi & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices etc. by Dr. HIRALAL JAIN. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 4. Super Royal pp. 64 + 278. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1964. Price Rs. 10/-.

For Copies Please write to—

BHARATIYA JNANPITH,
3620/21 Netaji Subhas Marg, Dariyaganj,
Delhi (India).

or

BHARATIYA JNANPITH,
Durgakund road, Varanasi (India).